



खण्ड 3

वेदांग

Pignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड 3 परिचय

वेदांग नमक तृतीय खण्ड के अध्ययन में आपका स्वागत है। पूर्व में आपने वेद और पुराण के विषय में जाना। इस क्रम में प्रस्तुत खण्ड में वेदांग के रूप में शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष के विषय में जानेंगे। प्रथम इकाई में शिक्षा तथा व्याकरण के स्वरूप एवं प्रयोजन को बताया गया है। दूसरी इकाई में निरुक्त के प्रयोजन और उसके प्रतिपाद्य की जानकारी दी गई है। तीसरी इकाई में छन्द और कल्प को बताया गया है। इन दोनों के प्रयोजन और विषय वस्तु को उपस्थित किया गया है। चौथी इकाई वेद का नेत्र कहे जाने वाले ज्योतिष नमक वेदांग के वर्णन से सम्बन्धित है। इस इकाई में ज्योतिष के प्रयोजन और उसकी प्रमुख विषयवस्तु की उपस्थापना की गई है। प्रस्तुत खण्ड का अध्ययन कर लेने के बाद वेदों की विषय वस्तु का उल्लेख करने में सक्षम हो जाएंगे।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 1 शिक्षा तथा व्याकरण—स्वरूप, प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 शिक्षा का स्वरूप
- 1.3 प्रमुख प्रातिशाख्यग्रन्थ
- 1.4 प्रमुख शिक्षाग्रन्थ
 - 1.4.1 ऋग्वेदीय प्रमुख शिक्षाग्रन्थ
 - 1.4.2 शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थ
 - 1.4.3 कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थ
 - 1.4.4 सामवेदीय शिक्षा ग्रन्थ
 - 1.4.5 अथर्ववेदीय शिक्षाग्रन्थ
- 1.5 शिक्षा का प्रयोजन
 - 1.5.1 शिक्षा का प्रतिपाद्य
 - 1.5.2 उच्चारण स्थान
 - 1.5.3 प्रयत्न
 - 1.5.4 साम
- 1.6 व्याकरण का स्वरूप
- 1.7. व्याकरण का प्रयोजन
 - 1.7.1 रक्षा
 - 1.7.2 ऊह
 - 1.7.3 आगम
 - 1.7.4 लघु
 - 1.7.5 असन्देह
- 1.8 व्याकरणशास्त्र का प्रतिपाद्य
 - 1.8.1 प्रथम अध्याय
 - 1.8.2 द्वितीय अध्याय
 - 1.8.3 तृतीय अध्याय
 - 1.8.4 चतुर्थ एवं पञ्चम अध्याय
 - 1.8.5 षष्ठ अध्याय
 - 1.8.6 सप्तम अध्याय
 - 1.8.7 अष्टम अध्याय
 - 1.8.8 प्रत्याहार
 - 1.8.9 अनुबन्ध
 - 1.8.10 गणपाठ
 - 1.8.11 अनुवृत्ति
- 1.9 सारांश
- 1.10 पारिभाषिक शब्दावली

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- शिक्षा नामक वेदांग के स्वरूप से अवगत हो जायेंगे।
 - प्रातिशाख्य ग्रंथों की संख्याएवं विषयवस्तु को समझ जायेंगे।
 - शिक्षा और प्रातिशाख्य के प्रयोजनों से भली-भाँति परिचित हो जायेंगे।
 - व्याकरण नाम के वेदांग से परिचित हो जायेंगे।
 - व्याकरण के अंतर्गत अध्ययन-क्षेत्रों से अवगत हो जायेंगे।
 - व्याकरण के प्रयोजन को समझ जायेंगे।
-

1.1 प्रस्तावना

वेद विश्वसाहित्य की अमूल्य निधि हैं। इसके छह अंग हैं –शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

**छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोतमुच्यते।।**

**शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।**

इन दोनों श्लोकों में छन्दशास्त्र को वेदपुरुष का पैर, कल्पशास्त्र को हाथ, ज्योतिषशास्त्र को नेत्र, निरुक्तशास्त्र को कान, शिक्षा को नाक और व्याकरण को मुख कहा गया है। जो मनुष्य वेदों को उनके इन छह अङ्गों के साथ अध्ययन करता है, वही परमपद को प्राप्त करता है। यहाँ पर उपर्युक्त सभी शास्त्रों के लिए अङ्ग शब्द का प्रयोग अंश या भाग अर्थ में नहीं हुआ है अपितु उसका अर्थ उपकारक है क्योंकि वेद के अङ्ग शरीर के अङ्गों के जैसे नहीं हैं। वेद की सत्ता वेदाङ्गों के बिना भी बनी रहती है किंतु शरीर का अस्तित्व अङ्गों के अभाव में नहीं रहता है। वेदाङ्गों का उल्लेख गोपथब्राह्मण, गौतमधर्मसूत्र, रामायण तथा बौधायनधर्मसूत्र आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में है। वेदाङ्गों के रचनाकाल को लेकर आचार्यों के मध्य विवाद है। जयचन्द्र विद्यालंकार ने वेदाङ्गों का समय 400 ई० पूर्व से लेकर 200 ई० पूर्व के मध्य में स्वीकार किया है। शंकरबालकृष्ण दीक्षित के अनुसार वेदाङ्ग-काल 150 शकपूर्व से लेकर 500 शकपूर्व के मध्य रहा होगा। भले ही वेदाङ्गों के काल पर आचार्यगण के मत कुछ भी रहे हों किन्तु शास्त्र के रूप में उनके महत्त्व को सभी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

1.2 शिक्षा का स्वरूप

वेदाङ्गों में शिक्षा का प्रथम स्थान प्राप्त है। यदि वेद की एक पुरुष रूप में परिकल्पना हो, तो यह शिक्षा वेदरूपी पुरुष की नासिका है। जिस प्रकार से शरीर के सभी अंगों के स्वस्थ और सुंदर रहने पर भी नासिका के अभाव में किसी का भी स्वरूप भद्दा

और अपूर्ण प्रतीत होता है, उसी प्रकार शिक्षा नामक वेदाङ्ग के अभाव में वेदपुरुष के स्वरूप की कल्पना पूर्ण नहीं होती। शिक्षा नामक वेदाङ्ग से तात्पर्य है कि वह विद्या, जिसको पढ़ने से हम वेद मन्त्रों में प्रयुक्त सभी वर्णों के स्वरूप को पहचानने लगते हैं, उन वर्णों का उच्चारण मुख में कहाँ से होगा, यह भली भाँति समझ जाते हैं तथा वर्णों में जो स्वर प्रयुक्त हैं, उनका ज्ञान हो जाता है। प्राचीन काल में सभी विद्याएं सुन कर ग्रहण की जाती थी। आश्रम में आचार्य मन्त्रोच्चारण करते थे और सभी शिष्य उसे सुन कर वैसे ही उच्चारण का अभ्यास करते थे। इस परम्परा को अनुश्रवण परम्परा कहते हैं। समस्त वैदिकशास्त्रों का अध्ययन अनुश्रवण परम्परा पर आधारित था। मन्त्रों के उच्चारण की उचित विधि को बताने का कार्य शिक्षा नामक वेदाङ्ग करता है। ब्राह्मणग्रन्थों में शिक्षा सम्बन्धी नियमों का उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। शिक्षा के प्रमुख विषयों का उल्लेख सर्वप्रथम तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रथम वल्ली में हुआ है। तैत्तिरीय-उपनिषद् कुल तीन वल्लियों में विभाजित है। इसके प्रथम वल्ली का नाम ही शीक्षावल्ली है। आचार्यों को अनुसार उपनिषद् के इस वल्ली का शीक्षा नाम रखना वैदिक परम्परा में शिक्षा नामक वेदाङ्ग के महत्व को प्रकट करता है। शिक्षा वेदाङ्ग के अंतर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं—प्रातिशाख्य एवं शिक्षाग्रन्थ। शिक्षा सम्बन्धी वर्ण-विषय इन ग्रन्थों से पूर्व ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषद्ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं किन्तु स्वतन्त्र तथा विस्तार से ये प्रातिशाख्य और शिक्षाग्रन्थों में ही प्रतिपादित हुए हैं।

1.3 प्रमुख प्रातिशाख्य ग्रन्थ

प्राचीन परम्परा में प्रत्येक वेद के अपने-अपने प्रातिशाख्य थे, जो अपने वेद के उच्चारण सम्बन्धी सभी विशेषताओं पर विस्तार से विचार करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के काल तक वेद केवल मौखिक एवं श्रुतिपरम्परा से सुरक्षित होते चले आये थे। कालान्तर में जब वैदिक भाषा उच्चारण में अन्तर आने लगा और उसका, उसी रूप में उच्चारण करना कठिन हो गया। आचार्यों ने अनुभव किया कि वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण को मौखिक परम्परा में तब तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता था जब तक वर्ण, स्वर, सन्धि, छन्द, संस्कार आदि के सामान्य नियम न बनाए जाए। इसलिए उनके द्वारा यह कार्य प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना द्वारा किया गया। कुछ आचार्य प्रातिशाख्य को व्याकरण के अन्तर्गत मानते हैं। प्रातिशाख्य की व्युत्पत्ति है— प्रातिशाखं भवं इति प्रातिशाख्यम्। इसका अर्थ है कि प्रत्येक संहिता की जितनी भी शाखाएं रही होंगी उन सब के अपने-अपने प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी होंगे। इसके विपरीत दूसरे आचार्यों का मत है कि एक वेद की जितनी शाखाएं थीं, उनमें से दो या तीन शाखाओं का सामूहिक रूप से एक प्रातिशाख्य था। जैसे—ऋग्वेद की शाकल शाखा और वाष्कल शाखा का एक ही प्रातिशाख्य 'ऋग्वेदप्रातिशाख्य' है। यह ऋग्वेद का एकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य है। इस प्रातिशाख्य के रचयिता आचार्य शौनक हैं। ये आश्वलायन के गुरु थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में इनका उल्लेख किया है। दूसरा प्रातिशाख्य 'वाजसनेयिप्रातिशाख्य' शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य है। यह प्रातिशाख्य शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं माध्यन्दिन और काण्व शाखा के स्वर तथा वर्णोच्चारण सम्बन्धी विधियों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रातिशाख्य के प्रणेता कात्यायन ऋषि हैं। विद्वानों के अनुसार प्रातिशाख्य के रचयिता कात्यायन अष्टाध्यायी के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि कात्यायन से पृथक् थे। आचार्यों ने प्रातिशाख्यों को अष्टाध्यायी से प्राचीन माना है, इससे भी स्पष्ट है कि वार्तिककार कात्यायन और प्रातिशाख्य के प्रणेता कात्यायन दोनों दो व्यक्ति थे। 'तैत्तिरीयप्रातिशाख्य' कृष्णयजुर्वेद का एकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य है। यह नाम से भले

ही तैत्तिरीयसंहिता से संबंधित प्रतीत हो किंतु इसमें कृष्ण यजुर्वेदीय सभी संहिताओं के स्वरों एवं वर्णोच्चारण सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। सामवेद के सभी प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनका नाम प्रातिशाख्य न हो कर तन्त्र है – ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र और अक्षरतन्त्र। ऋक्तन्त्र नामक सामवेदीय प्रातिशाख्य का सम्बन्ध कौथुम शाखा से है। इसे सामवेद का व्याकरण ग्रन्थ माना जाता है, क्योंकि इसमें वर्णोच्चारण के प्रकार, स्थान, उनकी संज्ञा, सन्धि, स्वरों के साथ-साथ व्याकरण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। सामतन्त्र सामवेद के कौथुम शाखा का ही दूसरा प्रातिशाख्य है। यह ऋक्तन्त्र का उत्तर भाग है क्योंकि ऋक्तन्त्र जहाँ पर समाप्त होता है सामतन्त्र वहीं से प्रारम्भ होता है। ऋक् तन्त्र के रचयिता का नाम अज्ञात है। औद्वजि नामक आचार्य को सामतन्त्र का प्रणेता माना जाता है। अक्षरतन्त्र का सम्बन्ध भी सामवेद के कौथुम शाखा से ही है। जिस प्रकार सामतन्त्र ऋक्तन्त्र का उत्तरभाग है, उसी प्रकार अक्षरतन्त्र सामतन्त्र का उत्तर भाग है। इसलिए इसके रचयिता भी औद्वजि है। आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार अक्षरतन्त्र के रचयिता भगवान् आपिशालि हैं। अथर्ववेद के दो प्रातिशाख्य मिलते हैं—चतुरध्यायिका और अथर्ववेद प्रातिशाख्य। चतुरध्यायिका का सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनकीय शाखा से है किन्तु अथर्ववेद प्रातिशाख्य अथर्ववेद के सभी शाखाओं का सामान्य प्रातिशाख्य है। अथर्ववेदप्रातिशाख्य का रचयिता अज्ञात हैं परन्तु यह निश्चित है कि इसकी रचना चतुरध्यायिका के बाद हुई है –

1.4 प्रमुख शिक्षा ग्रन्थ

शिक्षा वेदाङ्ग के अन्तर्गत शिक्षा नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। ये शिक्षा ग्रन्थ पूर्ण रूप से वेद की किसी शाखा का अनुसरण करते हैं तथा उस शाखा के वर्ण एवं स्वरादि मन्त्रोच्चारण सम्बन्धी विशिष्टताओं को बताने का कार्य करते हैं। कुछ शिक्षा ग्रन्थ सूत्र रूप में और कुछ श्लोक रूप में रचित हैं। कतिपय शिक्षा ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

1.4.1 ऋग्वेदीय प्रमुख शिक्षाग्रन्थ

- स्वराकुंशा शिक्षा
- षोडशश्लोकी शिक्षा
- शैशिरीय शिक्षा
- आपिशालि शिक्षा
- पाणिनि शिक्षा

1.4.2 शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाग्रन्थ

- याज्ञवल्क्य शिक्षा
- वासिष्ठी शिक्षा
- कात्यायनी शिक्षा
- पाराशरी शिक्षा
- माण्डव्य शिक्षा
- अमोघनन्दिनी शिक्षा
- लघु अमोघनन्दिनी शिक्षा

- माध्यन्दिनी शिक्षा
- वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा
- केशवी शिक्षा
- हस्तस्वर प्रक्रिया
- अवसान निर्णय
- स्वरभाक्ति परिशिष्ट
- क्रमसन्धान
- मनःस्वार शिक्षा
- यजुर्विधान शिक्षा
- स्वराष्टक शिक्षा
- क्रमकारिका शिक्षा

1.4.3 कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रन्थ

- भारद्वाज शिक्षा
- व्यास शिक्षा
- शम्भुशिक्षा
- कोहलीय शिक्षा
- सर्वसम्मत शिक्षा
- आरण्य शिक्षा
- सिद्धान्त शिक्षा

1.4.4 सामवेदीय शिक्षा ग्रन्थ

- लोमशी शिक्षा
- गोतमी शिक्षा
- नारदीय शिक्षा

1.4.5 अथर्ववेदीय शिक्षाग्रन्थ

- माण्डूकी शिक्षा

इस प्रकार वर्तमान में कुल 34 शिक्षाग्रन्थ प्राप्त होते हैं । इनमें पाणिनि शिक्षा और व्यास शिक्षा विशेषरूप से महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त शेष जिन ऋषियों एवं आचार्यों के नाम वाले शिक्षा ग्रन्थ हैं , वे सभी उन ग्रंथों के रचनाकार नहीं हैं बल्कि उनके नियमों को उक्त ग्रन्थों में निबद्ध किया गया है ।

1.5 शिक्षा का प्रयोजन

शिक्षा का प्रमुख प्रयोजन है—वेद मन्त्रों के शुद्ध एवं उत्तम उच्चारणपद्धति का प्रतिपादन करना। वेद एक विशेष प्रकार के अलौकिक शास्त्र हैं। जिनका शुद्ध –उच्चारण करने मात्र के, शास्त्रों में असीमित फल बताये गए हैं। अतः इनके सम्यक् अनुशीलन से धर्म,

अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। मन्त्रों में स्थित स्वरों का सम्यक् उच्चारण करने पर ही उनमें स्थित अर्थ प्रकाशित होते हैं। वेद में उच्चारण द्वारा मन्त्रार्थ की नियामकता के कारण मन्त्रों के दोषरहित और प्रमादरहित पाठ पर अत्यधिक बल दिया जाता है। वेद सभी प्रकार के लौकिक एवं अलौकिक फलों को प्रदान करते हैं लेकिन इनके कल्पवृक्ष स्वरूप का लाभ पाने के लिए मन्त्रों का शुद्ध एवं स्वरयुक्त उच्चारण प्रथम अनिवार्य शर्त है। यही कारण है कि उच्चारण विधियों का प्रतिपादन करने वाली शिक्षा वेदाङ्गों में प्रथम स्थान रखती है। उच्चारण की दृष्टि से महत्वपूर्ण सभी विषयों का ज्ञान कराना ही शिक्षा का प्रयोजन है। जैसे –

1. **वर्णों एवं स्वरों का पूर्ण ज्ञान** – मन्त्रों में प्रयुक्त वर्णों के उच्चारणस्थान, स्वर मात्रा और यत्न इत्यादि के प्रकार का भली-भाँति ज्ञान कराना शिक्षा का प्राथमिक प्रयोजन है। मन्त्रों में प्रमुख रूप से तीन प्रकार के स्वर विद्यमान हैं – उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इसके अतिरिक्त प्रचय और जात्य स्वरित के अनेक भेद मिलते हैं। मन्त्रोच्चारण में स्वरों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन स्वरों का पूर्ण ज्ञान तथा सन्धि इत्यादि प्रक्रिया अवस्था में स्वरों की स्थिति का ज्ञान कराना शिक्षा के महत्वपूर्ण प्रयोजनों में से एक है।
2. **स्वरों तथा उच्चारण विधियों का ज्ञान** – मन्त्रपाठ में उदात्त आदि स्वरों का नियमानुसार प्रयोग, सन्धि इत्यादि व्याकरण सम्बन्धी विकारों का प्रभाव तथा अपनी शाखा के उच्चारण सम्बन्धी विशिष्टताओं का पूर्ण ज्ञान कराना शिक्षा का द्वितीय महत्वपूर्ण प्रयोजन है।
3. **उत्तम और अधम वेदपाठी का लक्षण** – सभी शिक्षाग्रन्थ उत्तम और अधम वेदपाठी के लक्षणों का ज्ञान कराते हैं। एक वेदपाठी के उच्चारण में किन गुणों का समावेश होना चाहिए तथा उत्तम पाठक का लक्षण क्या है। शिक्षाग्रन्थ इसका प्रतिपादन करते हैं। इसके साथ ही उच्चारण में किन दोषों का प्रवेश नहीं होना चाहिए इसका भी निर्देश देते हैं। पाणिनीयशिक्षाग्रन्थ में उत्तम पाठक एवं अधम पाठक के लक्षणों की विस्तार से चर्चा है।

1.5.1 शिक्षा का प्रतिपाद्य

इस वेदाङ्ग का मुख्य प्रतिपाद्य स्वर एवं उच्चारण प्रक्रिया है। जिसमें वर्णमाला से लेकर उच्चारण के गुण एवं दोष तक का समावेश है। शिक्षाग्रन्थों के प्रमुख प्रतिपाद्य इस प्रकार हैं –

● वर्ण

शिक्षा नामक वेदाङ्ग का प्रथम प्रतिपाद्य संस्कृत वर्णमाला है। सामान्य रूप से संस्कृत वर्णमाला कहने पर पूर्व की कक्षाओं में पठित माहेश्वर सूत्रों में सम्मिलित वर्णों ध्यान आता है लेकिन वर्णों का प्रथम उल्लेख शिक्षा नामक वेदाङ्ग करता है। पाणिनीय शिक्षाग्रन्थ के अनुसार संस्कृत एवं प्राकृतभाषा दोनों में कुल तिरसठ या चौंसठ वर्ण होते हैं। जिनका पूर्ण ज्ञान प्रत्येक अन्तेवासी के लिए अनिवार्य था। स्वरों की संख्या इक्कीस है। वर्णों की संख्या में अन्तर देखकर भ्रमित नहीं होना चाहिए क्योंकि कहीं पर अचों की गणना भेद सहित है और कहीं पर भेदरहित है। अतः गणना की दृष्टि ही संख्या भेद का कारण है। क से म तक कुल पच्चीस वर्ण स्पर्श हैं। य, व, र, ल तथा श, ष, स, और ह ये आठ हैं। चार यम तथा अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय वर्ण हैं। इन्हें अयोगवाह

कहते हैं। ळएवं ळह ये दो ध्वनियां भी हैं। वहीं पर वर्णों के स्वर के आधार पर, काल के आधार पर, उच्चारण के आधार पर प्रयत्न के आधार पर तथा अनुप्रदान के आधार पर पाँच विभाग भी बताये गए हैं। इन विभागों के आधार वर्णों का अध्ययन ही शिक्षा का प्रमुख प्रतिपाद्य है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ऋ,ॠ, लृ को समानाक्षर और ए, ओ,ऐएवं औ का सन्ध्याक्षर कहते हैं।

● **स्वर:**

इस वेदाङ्ग के सभी ग्रन्थ मुख्यालय से स्वरों की चर्चा करते हैं। पाणिनीयशिक्षा में वर्णों का प्रथम विभाग स्वर के आधार पर बताया गया है। स्वर से तात्पर्य उदात्त, अनुदात्त, स्वरित है। पुनः उदात्त स्वर के अन्तर्गत संगीतशास्त्र में प्रयुक्त निषाद और गान्धार ये दो स्वर तथा अनुदात्त में ऋषभ और धैवत ये दो स्वर होते हैं। षड्ज, मध्यम, पञ्चम ये तीन स्वरितस्वर के भेद हैं। ये सभी स्वर ऋग्वेदीय मन्त्रपाठ से लेकर सामगायन तक में महत्वपूर्ण हैं। जिन स्वरवर्णों में उदात्त स्वर लगा होता है, उनका उच्चारण गले के उर्ध्व भाग से अथवा ऊँचे स्वर में होता है — उच्चैरुदात्तः। इसी प्रकार जिन वर्णों पर अनुदात्त के चिह्न लगे होते हैं, उनका उच्चारण गले के अधोभाग से होता है—नीचैरनुदात्तः। जिन वर्णों के उच्चारण मध्यम स्वर में होते हैं, वे स्वरित स्वर युक्त वर्ण होते हैं। स्वरित का लक्षण आचार्य पाणिनि के अनुसार 'समाहारः स्वरितः' है। साधारणतया वेदमन्त्र के प्रत्येक पद में कोई न कोई स्वर उदात्त अवश्य रहता है और शेष अनुदात्त होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वर्णों का भी वेद में प्रयोग होता है। जैसे—प्रचय। इसके अतिरिक्त स्वरित के आठ भेद होते हैं — जात्य, क्षैप्र, प्रचित, प्रश्लिष्ट, अभिनिहित, तैरोविराम, तैरोव्यञ्जन और ताथाभाव्यस्वरित। यह जो आठवाँ ताथाभाव्यस्वरित है, वह मात्र ऋग्वेद में ही प्रयुक्त होता है। यजुर्वेद में उसके स्थान पर कम्प का प्रयोग किया जाता है। उच्चारण में हाथ द्वारा वर्णों का जो संकेत किया जाता है शिक्षाग्रन्थ उसको भी बताते हैं। उदात्त स्वर की सूचक तर्जनी, प्रचय की मध्यमा, अनुदात्त की कनिष्ठिका और स्वरित की अनामिका है। अनुदात्त का स्थान हृदय को, स्वरित का कर्णमूल को और प्रचय का सम्पूर्ण मुख को समझना चाहिए और इसी प्रकार से इन स्वरवर्णों का उच्चारण करते समय हस्त-सञ्चालन करना चाहिए। मन्त्रों को लिपिबद्ध करते समय अनुदात्त को पड़ीपाई (—) और स्वरित को खड़ी पाई (।) से प्रदर्शित किया जाता है। उदात्त स्वर के लिए कोई चिन्ह नहीं है। प्रचय स्वर के लिए भी कोई चिन्ह नहीं होता परन्तु ध्यान देने की बात है कि किसी पद में अनेक अनुदात्त स्वर होने की दशा में उदात्त के बाद तुरन्त आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है और शेष अनुदात्त प्रचय के रूप में चिन्ह रहित पाये जाते हैं किन्तु अन्तिम अनुदात्त पर चिन्ह लगाकर प्रदर्शित कर दिया जाता है। जात्य स्वरित पर उदात्त और अनुदात्त दोनों चिन्हों का प्रयोग होता है।

वेद में स्वरों का महत्त्व विशेष रूप से हैं क्योंकि उनमें यदि स्वर परिवर्तित हो जायें तो अर्थ बदल जाता है। इसलिए मन्त्रोच्चारण हेतु स्वरों का ज्ञान होना अनिवार्य है। महर्षि पाणिनि ने यह स्पष्ट कहा है कि जो मन्त्र स्वर और वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या युक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ को प्रतिपादित नहीं करता अपितु वह वज्र बन कर यजमान का ही नाश कर देता है।

- मात्रा— वर्णों का दूसरा विभाग काल के आधार पर है। यह मात्रा के रूप में दिखाई पड़ता है। मात्रा से अभिप्राय है —वर्णों के उच्चारण में लगने वाला समय।

इसके तीन भेद हैं – द्रस्व, दीर्घ और प्लुत। ये अच् (स्वर) के भेद हैं। जिस वर्ण के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है, उसकी संज्ञा द्रस्व होती है। जिन वर्णों के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है, वे दीर्घ कहे जाते हैं। इसी प्रकार जिन वर्णों के उच्चारण में तीन मात्राएँ लगती हैं वे प्लुतसंज्ञक वर्ण हैं। इनके मध्य के अन्तर को उ, ऊ तथा उ३ के उच्चारण में लगने वाले समय के आधार पर समझा जा सकता है। वर्णमाला में वर्ण द्रस्व हैं। जैसे – अ, इ, उ, ऋ और लृ। इनके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है।

आ, ई, ऊ, ऋ, ए, ओ, ऐ एवं औ इनके उच्चारण में दो मात्राएँ लगती हैं। अतः ये दीर्घ वर्ण हैं। प्लुत के प्रयोग का उदाहरण है— ओ३म् अथवा पुकारते समय कृष्ण३! आगच्छ।

1.5.2 उच्चारण स्थान

वर्णों का तीसरा विभाग उच्चारण स्थान के आधार पर किया गया है। उच्चारण के समय वायु मुख के जिन स्थानों से टकराता हुआ बाहर निकलता है वे वर्णों के उच्चारण स्थान माने जाते हैं। पाणिनीय शिक्षाग्रन्थ में इनकी संख्या आठ हैं – उर, कण्ठ, तालु, मूर्धा, ओष्ठ, जिह्वा, दन्त, नासिका आदि। ह जब ङ, ज, ण, न, म और थ, व, र एवं ल के साथ उच्चरित होता है तब उसका उच्चारण स्थान उर: होता है और यह औरस्य कहलाता है किन्तु स्वतन्त्र होने पर ह और अ दोनों कण्ठ से उच्चरित होते हैं। इकार, चवर्ग, शकार तालु से, उकार एवं पवर्ग ओष्ठ से, ऋकार और टवर्ग रकार और षकार मूर्धा तथा लकार त वर्ग और सकार दन्त से उच्चरित होते हैं। शिक्षाग्रन्थ क वर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूल, व का दन्त-ओष्ठ, ए और ऐ का कण्ठतालु तथा ओ और औ का कण्ठ-ओष्ठ बताते हैं। अनुस्वार और यमों का उच्चारण स्थान नासिका है।

1.5.3 प्रयत्न

उच्चारण में जो प्रयास करते हैं, उस आधार पर भी वर्णों विभाग हुआ है। ये प्रयत्न दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। आभ्यन्तर प्रयत्न के पाँच भेद हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत्, ईषत्त्विवृत्, संवृत्। बाह्य प्रयत्न के एकदश भेद हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त अनुदात्त, स्वरित।

1.5.4 साम

साम का अर्थ है साम्य अर्थात् दोषरहित और माधुर्यादि गुण से युक्त उच्चारण। अक्षरों के उच्चारण करने में जो अनेक दोष एवं गुण उत्पन्न होते हैं। इनका शिक्षा ग्रन्थों में वैज्ञानिक रूप से वर्णन है। एक आदर्श पाठक के उच्चारण में माधुर्य, सभी अक्षरों का स्पष्ट कथन, पदों का विभाजन, स्वरयुक्त, धैर्य तथा लय का अनुगमन आदि गुण प्राप्त होने चाहिए। इसके विपरीत अधम पाठक दोषपूर्ण उच्चारण करने वाले, सिर हिला-हिला कर पाठ करने वाले और वर्णों को गान वाले होते हैं। ये वर्णों का शीघ्रतापूर्वक उच्चारण करते हैं। लिखा हुआ देखकर पढ़ते हैं, अर्थ ज्ञान के बिना और संकुचित कण्ठ से पढ़ते हैं।

• सन्तान

इस शब्द का अर्थ है—संहिता अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व रहने पर कभी कभी दो पदों का आवश्यकतानुसार शीघ्रता से एक

के अनन्तर उच्चारण होता है। इसे ही संहिता कहते हैं। संहिता होने पर ही पदों में सन्धि होती है। उदाहरण के लिए 'वायो आयाहि' में दो स्वतन्त्र वैदिक पद हैं। जब एक ही वाक्य में दोनों का साथ-साथ उच्चारण होता है, तब सन्धि के कारण इनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। पूर्व उदाहरण के लिए सन्धि जन्य रूप वाय वायाहि होगा। इन सन्धियों सम्बन्धी नियमों का वर्णन भी प्रातिशाख्यग्रन्थों में प्रधानता से हुआ है।

शिक्षा वर्णों के उत्तम ढंग से उच्चारण के लिए वर्ण के स्थान, प्रयत्न, वर्णों की संख्या और प्रकृति सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्रदान करती है। यहाँ पर उच्चारण के उचित विधि पर बहुत बल दिया गया है। किसी भी वर्ण का उच्चारण ठीक उसी प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को दाँतों से पकड़ती है वि बच्चे न तो गिरते हैं और न हि उन्हें दाँत गड़ते हैं।

वेदाङ्ग व्याकरण –

1.6 व्याकरण का स्वरूप

व्याकरण वेदपुरुष का मुख है। जिस प्रकार शरीर में मुख का प्रमुख कार्य होता है – शब्दों का उच्चारण अथवा बोलना उसी प्रकार व्याकरणशास्त्र का कार्य शब्दों को उत्पन्न करना है। इसीलिए व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति—“व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन इति” अर्थात् शब्द इसके द्वारा बनाये जाते हैं। इसलिए शब्दज्ञानजनक व्याकरणमूँसा कहते हैं। व्याकरणशास्त्र के आचार्यों ने सर्वप्रथम मूलशब्द के रूपों को अलग किया। पुनः धातु और प्रत्यय के भेद को पहचाना। तत्पश्चात् प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय करके उसकी प्रक्रिया निर्धारित की। इस प्रकार व्याकरण एक शास्त्र के रूप में हमारे सम्मुख आता है। सर्वप्रथम देवगुरुबृहस्पति ने 'शब्दपारायण' नामक ग्रन्थ की रचना की, ऐसा महर्षि पतञ्जलि अपने ग्रन्थ महाभाष्य में बताते हैं किन्तु इन्द्र रचित 'ऐन्द्र व्याकरण' व्याकरण शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है परन्तु इसका उल्लेख देवबोध रचित महाभारत की टीकाएवं तिब्बतीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त वायु, भारद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शान्तनु, वैयाघ्रपद्य, माध्यन्दिनी, रौढि, शौनकि, गौतम, व्याडि, आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन और औदुम्बरायण इत्यादि ये सभी महर्षि पाणिनि के पूर्ववर्ती व्याकरणाचार्य हैं जिन्होंने व्याकरण शास्त्र को समृद्ध करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महर्षिपाणिनि संस्कृत व्याकरणशास्त्र के सबसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। इन्होंने भाषा निर्माण सम्बन्धी नियमों का अत्यंत सूक्ष्मतापूर्वक वर्णन अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में किया है। इसका परिणाम यह है कि अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र के सबसे बड़े मार्गदर्शक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। इसमें बताए गए नियमों को उनके बाद के संस्कृत के सभी रचनाकारों ने स्वीकार किया है। इसकी उत्कृष्टता के कारण महाभाष्यकारपतञ्जलि ने पाणिनि को भगवान् कह कर सम्बोधित किया है। बहुत से आचार्यों द्वारा अष्टाध्यायी में सूत्रों की संख्या चार हजार मानी है लेकिन कारिका नामक ग्रन्थ और सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार सूत्रों की संख्या 3983 है। अष्टाध्यायी के सूत्रों में अनेक आचार्यों ने आवश्यकतानुसार संशोधन किया है। व्याकरणशास्त्र में यह संशोधन वार्तिक नाम से प्रसिद्ध है। इन वार्तिककारों में वररुचि कात्यायन का नाम सबसे प्रसिद्ध है। कात्यायन अष्टाध्यायी के योग्यतम व्याख्याता हैं। वार्तिक रचकर उन्होंने, सूत्रों को समझने की नई दृष्टि प्रदान की। उनके द्वारा रचित वार्तिकों की

संख्या-4263 है। पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखे जाने के पश्चात् महर्षिपतञ्जलि ने अध्याध्यायी पर एक महती व्याख्या लिखी, जो महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने पाणिनीय – सूत्रों एवं उन पर लिखे वार्तिकों की विवेचना की है। इस विवेचना के अन्तर्गत सूत्रों से सम्बन्धित अपने विचारों को भी प्रकट किया है। महाभाष्य में कुल 84 आह्निक हैं। पातञ्जल महाभाष्य के 84 आह्निक विद्यार्थियों को पढ़ाये गए 84 दिन के पाठ हैं। इसमें अष्टाध्यायी के लगभग 1689 सूत्रों पर भाष्य किया गया है। महाभाष्य के बाद व्याकरण दर्शन का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ वाक्यपदीय है। इसके रचयिता भर्तृहरि थे। वाक्यपदीय में व्याकरणशास्त्र का दार्शनिक स्वरूप प्रकट हुआ है। भर्तृहरि की दृष्टि में ध्वनि अर्थात् स्फोट ही एकमात्र परम तत्व है और जगत उसी का रूपांतर है। अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियाँ लिखी गई हैं। इसमें जयादित्य और वामनरचित काशिका वृत्ति अष्टाध्यायी की सर्वमान्य व्याख्या है। जयादित्य ने पाँच अध्यायों और वामन ने अन्तिम तीन अध्यायों की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त दुर्घटवृत्ति, प्रक्रिया दीपिका, मिताक्षरा 'सूत्रप्रकाश', व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि और भट्टोजिदीक्षित द्वारा अष्टाध्यायी पर शब्दकौस्तुभ नाम की महती वृत्ति लिखी गई है।

विद्वानों का कहना है कि अष्टाध्यायी की रचना का मूल उद्देश्य शब्दों की सिद्धि करना था। राजा शर्ववर्मा ने अपने लोगों के संस्कृत –भाषासम्बन्धी अज्ञान को दूर करने के लिए कातन्त्रव्याकरण नामक सम्प्रदाय की नींव डाली। इसका प्रमुख लक्ष्य संस्कृत का व्यवहारिक ज्ञान था। यह सम्प्रदाय शब्दों की प्रक्रिया शैली का प्रचार करता था। प्रक्रिया-शैली में रचित धर्मकीर्तिकृत रूपावतार, रामचन्द्र की प्रक्रियाकौमुदी तथा भट्टोजिदीक्षित की सिद्धांतकौमुदी आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें सिद्धांतकौमुदी के अन्तर्गत मुनित्रय के सिद्धांतों का समावेश करते हुए, शब्दों की सिद्धि-प्रक्रिया का वर्णन है। इस प्रक्रिया-ग्रन्थ की प्रमुख टीकाओं के नाम हैं-तत्वबोधिनी, बालमनोरमा, सुखबोधिनी, तत्वदीपिका, रत्नाकर, इत्यादि।

1.7. व्याकरण का प्रयोजन

आप जानते हैं कि व्याकरणशास्त्र एक वेदाङ्ग है। इसका प्रमुख प्रयोजन वेद –मन्त्रों का शुद्ध वाचन एवं अर्थबोध कराना है। महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में प्रयोजनों का दो प्रकार से कथन किया है- मुख्य प्रयोजन और गौण प्रयोजन। महाभाष्य की टीका लिखने वाले आचार्यों का मानना है कि महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम सूत्र द्वारा ही व्याकरणशास्त्र के सामान्य प्रयोजन का कथन कर दिया है। यह सूत्र है- 'अथ शब्दानुशासनम्' अर्थात् शब्दों का अनुशासन करने वाला शास्त्र। इस सूत्र से यह निश्चित होता है कि लोक में प्रचलित सभी सार्थक शब्द चाहे वह लौकिक अथवा वैदिक भाषा के शब्द हों, उनका अनुशासन करना अर्थात् उनमें प्रकृति और प्रत्यय का ज्ञान कराना तथा उन शब्दों के निर्माण प्रक्रिया को बताना ही व्याकरण शास्त्र का सामान्य प्रयोजन है और मुख्य प्रयोजन है- रक्षा, उह, आगम, लघु और असन्देह।

1.7.1 रक्षा

वेदों की रक्षा व्याकरण का प्रमुख प्रयोजन है। मन्त्रों में वर्णों के लोप, आगम तथा वर्ण –विकार को भली-भाँति जानने वाला ही वेदों की रक्षा कर सकता है। यह ज्ञान व्याकरण के अध्ययन से होता है। जिसको व्याकरण का ज्ञान नहीं होगा उसे लोक में शब्दों का प्रयोग करते समय वर्ण का लोप और आगम नहीं दिखाई न देने के कारण जब वेदों में वर्णों के लोप और आगम का दर्शन होगा, तो वह भ्रम में पड़ जाएगा ऐसी

स्थिति में व्याकरण का ज्ञान न होने के कारण उसमें पाठांतर की कल्पना करने लगेगा। जिससे महान अनर्थ हो जाएगा। किंतु व्याकरण पढ़नेवाला व्यक्ति भ्रम में नहीं पड़ता और उसे वेदार्थ का ज्ञान भली-भाँति हो जाता है। इस प्रकार वेदों के मूल-भाव की रक्षा व्याकरण के अध्ययन से सम्भव है।

1.7.2 ऊह

रक्षा के बाद ऊह दूसरा मुख्य प्रयोजन है। ऊह का अर्थ है—विभक्तिओं में परिवर्तन। वेद में जो मंत्र पढ़े गए हैं, उनमें प्रयुक्त पद सभी लिंगोएवं सभी विभक्तिओं में नहीं हैं। ऐसी दशा में यज्ञ आदि अनुष्ठानों में व्याकरण जानने वाला व्यक्ति को मंत्रों में प्रयुक्त पदों में आवश्यकतानुसार लिंगोएवं वचन के अनुसार विभक्ति-परिवर्तन करना पड़ता है। जिसको व्याकरण का ज्ञान नहीं है, वह उन मंत्रों में उचित ढंग से लिंगो और विभक्तियों का प्रयोग करने में समर्थ नहीं होगा। इसलिए मंत्रों में उचित लिंग और विभक्ति प्रयोग का ज्ञान भी व्याकरणशास्त्र का महत्वपूर्ण प्रयोजन है।

1.7.3 आगम

साक्षात् वेद और परम्परागत ज्ञान को आगम कहते हैं। इस दृष्टि से यह वेद भी स्वयं व्याकरण का प्रयोजन है। ब्रह्मचारी को किसी दृष्ट कारण की अपेक्षा किए बिना ही षड्वेदाङ्गो सहित वेद का अध्ययन परम कर्तव्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए। ऐसा श्रुति कहती है। वेदों के उन छह अङ्गों में मुख्य अङ्ग व्याकरण स्वयं है। ऐसे में आगम को प्रयोजन बता कर महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण के अध्ययन को अनिवार्यघोषित किया है।

1.7.4 लघु

भाषा का प्रयोग करते समय लघुता व्यवहार में आ जाए, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। वाक्य निर्माणएवं पद निर्माण आदि कार्य के लघु प्रयोगों में कुशलता प्राप्त करना भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन है।

1.7.5 असन्देह

महर्षि ने व्याकरण का प्रयोजन असन्देह को भी बताया क्योंकि वैयाकरण को सन्देह नहीं होता। भाषा में या वेद में प्रयुक्त पदों के प्रयोग और उनके अर्थ को भलीभाँति समझने के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। उदाहरण के लिए स्थूलपृषती का अर्थ अलग-अलग समास करने पर दो प्रकार से निकलता है। कर्मधारय समास करने पर मोटी और बिन्दुओं वाली गौ और बहुब्रीहि समास करने पर स्थूलपृषती का अर्थ—जिसके शरीर पर मोट-मोटे बिन्दु हैं, ऐसी गौ। अब मन्त्र में स्थूलपृषती का अर्थ कर्मधारय के अनुसार होगा या बहुब्रीहि समास के अनुसार, इसका ज्ञान व्याकरण पढ़ने से होता है। पाणिनि के अनुसार यदि समास के अन्त में उदात्तस्वर होगा तो वहाँ तत्पुरुष समास होगा और यदि पूर्वपदप्रकृति स्वर होगा तो बहुब्रीहि समास होगा। इस प्रकार प्रसङ्गानुसार अर्थ-बोध के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

इन प्रयोजनों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रयोजन भी महर्षि पतञ्जलि ने बताये हैं। वे तेरह प्रयोजन वैदिक आख्यानोंएवं मन्त्रों से जुड़े हुए हैं। जिनसे साधु शब्दों के प्रयोग का महत्व ज्ञात होता है। इस प्रकार साधु शब्दों का ज्ञान ही व्याकरण का एकमात्र प्रयोजन है। वाक्यपदीय के रचनाकार भर्तृहरि के अनुसार ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वेद का ज्ञान अनिवार्य है और वेद का ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं हो सकता। उन्होंने

महर्षि पतंजलि के द्वारा बताए गए व्याकरण के प्रयोजनों का समर्थन किया है। और उनको ध्यान में रखकर व्याकरण के अध्ययन का निर्देश दिया है। व्याकरण थोड़े से परिश्रम में अधिक शब्दों का ज्ञान कराता है। लोक में जितने व्यवहार हैं, सभी शब्द द्वारा ही चलते हैं। व्याकरण शब्दों के अर्थ ज्ञान में सन्देह को दूर करता है अतः व्याकरण का अध्ययन अज्ञान-निवृत्ति के लिए आवश्यक है। वाणी मोक्ष का उपाय है। अपशब्द बोलने से पाप उत्पन्न होता है। अतः यह शास्त्र वाणी की चिकित्सा करता है। यह सभी विद्याओं में पवित्र एवं साधु शब्दों को बताने के कारण आदरणीय है। लोक में काव्य इत्यादि जितनी भी विधाएं हैं उन सब के लिए व्याकरण शक्ति ग्राहक का कार्य करता है। यह लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों के लिए शक्ति-ग्रह है। अतः व्याकरण का अध्ययन वेद ज्ञान के द्वारा मोक्ष पाने के लिए आवश्यक है। अतः परम्परा से व्याकरण भी मोक्ष का साधन है। मोक्ष को पाने के लिए जितनी भी सीढ़ियां हैं, व्याकरण उनमें प्रथम सीढ़ी है। ऐसा आचार्य स्वीकार करते हैं क्योंकि व्याकरण का ज्ञान हो जाने से शब्द के विषय में बुद्धि-भ्रम दूर हो जाता है और मनुष्य को साधु शब्दों का ज्ञान हो जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा वेदमन्त्रों का ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है।

1.8 व्याकरणशास्त्र का प्रतिपाद्य

व्याकरणशास्त्र की विशाल परम्परा रही है, जिसके अन्तर्गत पाणिनि का अष्टाध्यायी अग्रगण्य है। यह खेद का विषय है कि उनके पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की रचनाएं लगभग नष्ट हो चुकी हैं। पाणिनि ने इन आचार्यों के सम्बन्धित नियमों को उनके नाम से अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। अष्टाध्यायी में लगभग 4000 सूत्र हैं। यह आठ अध्यायों में विभाजित है तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है -

1.8.1 प्रथम अध्याय

इस अध्याय में व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी संज्ञाएं तथा परिभाषाएं हैं। इनमें पूर्ववर्ती शास्त्रों में प्रयुक्त संज्ञाएं, प्रत्ययसम्बन्धी संज्ञाएं और धातुसंज्ञाओं को करने वाले सूत्रों का उल्लेख है। कुछ संज्ञाओं के सूत्र भाषा में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जैसे- अए, ओ की गुणसंज्ञा होती है-अदेङ् गुणः। आ, ए, औ की संज्ञा वृद्धि है - वृद्धिरादैच्। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' अर्थात् धातु प्रत्यय और प्रत्यययुक्त शब्दों के अतिरिक्त सभी अर्थयुक्त शब्दों की प्रतिपादिक संज्ञा होती है। इन संज्ञाओं का प्रयोग व्याकरण प्रक्रिया में होता है।

1.8.2 द्वितीय अध्याय

विशिष्ट पदों का संकलन इस अध्याय का मुख्य विषय है। जिसके अन्तर्गत समासों का विस्तृत विवेचन तथा कारकों की व्याख्या है। इसमें समासरूप पदविशिष्ट का विवेचन है। सर्वप्रथम पूर्वपद प्रधानता वाले अव्ययीभाव समास उसके बाद उत्तरपद प्रधानता वाले तत्पुरुष समास तथा तत्पुरुष के बाद बहुव्रीहि समास का वर्णन है। उभयपद प्रधान द्वन्द्वसमास का उल्लेख अन्त में है। समास के उपरान्त विभक्तियों का वर्णन है।

1.8.3 तृतीय अध्याय

यहाँ पर कृदन्त-प्रकरण का उल्लेख है। इसके दो विभाग हैं- कृत्य प्रत्यय और कृत प्रत्यय। यह प्रकरण धातु से नाम की उत्पत्ति का विधान करता है।

1.8.4 चतुर्थ एवं पञ्चम अध्याय

इनमें तद्धित प्रकरण है। इस प्रकरण में नामसे नाम की उत्पत्ति का विवेचन है। यहीं पर स्त्री प्रत्ययों की भी चर्चा है। तद्धित प्रकरण के दो भेद हैं—अस्वार्थिक और स्वार्थिक तद्धितप्रत्यय । चतुर्थ अध्याय में तीन तद्धितप्रत्ययों का मुख्य रूप से वर्णन है— अण् , ट्क् और यत् तथा पञ्चम अध्याय में छ, ठक्, और ठञ् प्रत्ययों का उल्लेख है।

1.8.5 षष्ठ अध्याय

इस अध्याय में पहले प्रकृति अर्थात् धातुसम्बन्धी कार्यों का तथा बाद में प्रत्यय सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख है। इनके अन्तर्गत सम्प्रसारण, आगम, आदेश इत्यादि प्रक्रिया विधि बताये गये हैं। स्वरविधि का भी वर्णन है। इस अध्याय में तिङ् और सुप् प्रत्ययों से सम्बन्धित प्रक्रिया का विवेचन है।

1.8.6 सप्तम अध्याय

यह अध्याय मुख्य रूप से प्रत्यय सम्बन्धी कार्यों का विवेचन करता है। प्रत्यय कार्यों के साथ आगमों का भी उल्लेख है। विप्रतिषेध सम्बन्धी कार्यों का वर्णन भी यहीं पर है।

1.8.7 अष्टम अध्याय

इसमें वर्णों के द्वित्व—विधि का वर्णन है। पुनः पदस्वर प्रक्रिया कथित है। पूर्वत्रासिद्धम नामक प्रसिद्ध सूत्र यहीं है। इस अन्तिम अध्याय में सन्धि प्रक्रिया सम्बन्ध सूत्र हैं।

संक्षिप्तता व्याकरणसूत्रों की प्रमुख विशिष्टता है। वैयाकरण विषयों को संक्षेप रूप से प्रस्तुत करने के लिए इतने प्रसिद्ध है कि उनके लिए कहा जाता है कि यदि विषय का प्रतिपादन करने में ये अर्ध मात्रा का कम प्रयोग करने में सफल हो जाते हैं तो इस प्रकार उत्सव मनाते हैं, मानों उनके घर पुत्र का जन्म हुआ हो। आचार्य पाणिनि ने अपने ग्रन्थ को संक्षिप्त करने के लिए प्रत्याहार, अनुबन्ध, गण, संज्ञाएं, अनुवृत्ति और स्थान—स्थान पर अनेक सूत्रों के एक साथ प्रभावी होने पर पूर्वत्रासिद्धम् सदृश नियमों की (परिभाषाओं) स्थापना की है। व्याकरण शास्त्र के विषय—वस्तु के बोध के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है क्योंकि ये व्याकरण की कुञ्जी हैं।

1.8.8 प्रत्याहार

प्रत्याहार संक्षेप कथन को कहते हैं। प्रत्याहारों का निर्माण माहेश्वर सूत्रों द्वारा होता है। इन्हें संस्कृत वर्णमाला भी कह सकते हैं— अइउण् ।१। ऋलृक् ।२। एओङ् ।३। ऐऔच् ।४। हयवरट् ।५। लण् ।६। जमडणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११। कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४।

इन माहेश्वर सूत्रों के विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि ये भगवान् शिव के डमरू से निकले हैं। इन सभी सूत्रों के अन्तिम वर्ण हल् (व्यञ्जन) हैं और इत् कहलाते हैं। प्रत्याहार बनाते समय प्रथम वर्ण के साथ इनका उपयोग किया जाता है। जैसे —अल् , हल् इत्यादि। अल् प्रत्यय के अन्तर्गत प्रथम सूत्र के अ से लेकर अन्तिम सूत्र के ल तक के सभी वर्ण आ जाते हैं। इनके मध्य के वर्णों की गणना करते समय सभी इत् संज्ञक वर्णों को छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार हल् प्रत्याहार के अन्तर्गत है वर्ण के ह से लेकर अन्तिम सूत्र के इत् संज्ञक वर्ण ल तक के सभी वर्ण आ जाते हैं। हल् प्रत्याहार में सभी व्यञ्जन वर्ण आते हैं। इसी प्रकार अच् प्रत्याहार में सभी स्वरवर्ण आ जाते हैं। अइउण् से अ और ऐऔच् से च् को लेकर अच् प्रत्याहार बनता है। यह अच् प्रत्याहार

अन्तिम हल् वर्णों को छोड़ कर शेष स्वर वर्ण – अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, औ का बोधक है। सामान्य रूप से माहेश्वर सूत्र से 42 से 44 प्रत्याहार तक मिलते हैं। माहेश्वर सूत्र से निर्मित अच् प्रत्याहार में कुल नौ स्वरवर्ण हैं। हल् प्रत्याहार में कुल तैंतीस वर्ण हैं।

व्यञ्जन वर्णों में – क ख, ग, घ,
च, छ, ज, झ
ट, ठ, ड, ढ
त, थ, द, ध
प, फ, ब, भ इनकी स्पर्श संज्ञा है।

सभी वर्णों के पांचवे वर्ण—ञ् म ङ ण, न ये अनुनासिक संज्ञक हैं।
य, व, र, ल अन्तस्थ और श ष स ह ये ऊष्म संज्ञक वर्ण हैं।

1.8.9 अनुबन्ध

व्याकरण प्रक्रिया में अनुबन्ध का महत्वपूर्ण योगदान है। “इत्संज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम्” जो अक्षर इत् होते हैं उनका लोप हो जाता है। यथा— माहेश्वर सूत्रों के अन्तिम वर्ण। इसी प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्रों में स्थान – स्थान पर अनुबन्ध प्राप्त होते हैं। यद्यपि इत्संज्ञक होने से लोप हो जाता है फिर भी उन वर्णों का व्याकरण प्रक्रिया में उपयोग होता है। जैसे— व्याकरण के अनुसार जिन प्रत्ययों में ष् इत्संज्ञक है, उनसे बनने वाले शब्द को स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए डीष् प्रत्यय का प्रयोग होता है। किसी पुल्लिङ्ग को स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए डीप् और डीष् दोनों के प्रयोग का नियम है। उदाहरण के लिए रजक से रजकी बनाने के लिए डीष् प्रत्यय का प्रयोग करेंगे क्योंकि रञ्ज धातु से ञ्जुव् प्रत्यय करने पर पुल्लिङ्ग में रजक शब्द बनता है। यहाँ पर रजक शब्द बनाते समय ञ्जुव् प्रत्यय से ष् की इत्संज्ञा होकर उसका अनुबन्ध लोप हुआ है। इसलिए रजक से डीष् लगा कर रजकी शब्द बनेगा। अनुबन्ध इत्संज्ञक होकर इस प्रकार कार्य करते हैं।

1.8.10 गणपाठ

अष्टाध्यायी में गणपाठ के द्वारा शब्दों के उत्पत्ति प्रक्रिया को संक्षिप्त किया गया है। जहाँ पर कईऐसे शब्द हैं जिनमें एक ही प्रत्यय का प्रयोग करना हो या एक प्रकार की व्याकरण प्रक्रिया करनी हो, तो उन सब का एक गण बना कर उस गण के प्रथम शब्द को लेकर एक सूत्र बना दिया गया है तथा उसके समान शब्दों की सूची दे दी गई है।

1.8.11 अनुवृत्ति

छोटे छोटे सूत्रों की रचना द्वारा व्याकरण प्रक्रिया को संक्षिप्त करने में अनुवृत्ति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आचार्य पाणिनि प्रारम्भ के सूत्रों में जिन पदों का प्रयोग कर चुके होते हैं उन पदों की अगले सूत्र में पुनरावृत्ति नहीं करते। जो पद अगले सूत्र में आवश्यक होता है उस पद का, पूर्वसूत्र से अनुवर्तन कर लेते हैं। व्याकरण में इस नियम को अनुवृत्ति कहते हैं। पाणिनि ने कुछऐसे सूत्र भी बनाये हैं जिनका अलग से कोई अर्थ नहीं होता है लेकिन परवर्ती प्रत्येक सूत्र से जुड़ने पर उनका अर्थ प्रकट होता है। ऐसे सूत्र अधिकार सूत्र कहे गये हैं। इस प्रकार के एक सूत्र का अनुवर्तन तब तक होता रहता है जब तक अगला अधिकार सूत्र नहीं आ जाता।

1.9 सारांश

वेद के सभी छह अङ्गों में शिक्षाएवं व्याकरण दोनों का प्रमुख स्थान है। शिक्षा को वेदरूपी पुरुष की नासिका तथा व्याकरण को मुखस्थानीय महत्व प्राप्त है। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में ही ये वेदाङ्ग अस्तित्व में आ गए थे। शिक्षा नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ विद्यमान हैं— प्रातिशाख्य और शिक्षाग्रन्थ। इन ग्रन्थों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है— मन्त्रों के उच्चारण—प्रक्रिया को उन्नत बनाना। प्राचीन से लेकर अर्वाचीन काल तक के आचार्यों का दृढ़ मत है कि वैदिक मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण में ही उनकी सार्थकता है। यह भी महत्वपूर्ण है कि वेद के सभी शाखाओं की उच्चारण सम्बन्धी कुछ मूल विशिष्टतायें होती थी जिन्हें उस शाखा के अध्येता को जानना अनिवार्य होता था। सभी वेदों के अपने-अपने प्रातिशाख्य ग्रन्थ हैं, जो उच्चारण प्रक्रियाएवं स्वर नियमों का प्रतिपादन करते हैं। वर्तमान में ऋग्वेद का एकमात्र प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध है। जिसके रचयिता आचार्य शौनक हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य शुक्ल यजुर्वेद के दोनों शाखाओं के उच्चारण—नियमों को प्रतिपादित करने वाला एकमात्र प्रातिशाख्य है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य सभी कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं का प्रतिनिधित्व करता है। सामवेद के तीन तथा अथर्ववेद के दो प्रातिशाख्य वर्तमान में उपलब्ध हैं। शिक्षा ग्रन्थ अपनी-अपनी शाखा सम्बन्धी संहिताओं के वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं। वर्तमान में कुल चौतीस शिक्षाग्रन्थ उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में वेद—मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर अत्यधिक बल दिया जाता था। इस बात के अनेक उदाहरण हैं कि उच्चारण में स्वर बदलते ही मन्त्र का अर्थ बदल जाता है जिसके परिणाम स्वरूप यजमान का उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष होजाता है। शिक्षा की भौति व्याकरण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण वेदाङ्ग है। वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन परम आवश्यक है। पाणिनीय व्याकरण के अन्तर्गत सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिङ्गानुशासन के साथ-साथ कात्यायन रचित वार्तिकएवं महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य सम्मिलित है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण के आदि प्रवक्ता ब्रह्मा हैं। संस्कृत वाङ्मय में कुल नौ व्याकरण परम्पराओं का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें पाणिनीयव्याकरण सर्वोत्कृष्ट है। 'ऐन्द्र व्याकरण' चान्द्र व्याकरण काशकृत्स्नव्याकरण, कौमारव्याकरण, शाकटायनव्याकरण, सारस्वतव्याकरण, आपिशालिव्याकरण, शाकलव्याकरण और पाणिनीयव्याकरण। अष्टाध्यायी सूत्रशैली में लिखा गया ग्रंथ है। इसमें लगभग चार हजार सूत्र हैं तथा दो हजार धातुओं की गणना है। सूत्रों की विशेषता होती है कि ये कम शब्दों में अधिक अर्थ बताने की क्षमता रखते हैं। इनमें सन्देह का अभाव होता है, प्रकरण को साररूप में प्रकट करते हैं तथा आवश्यक सभी स्थानों पर घटित होते हैं। अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र वृद्धिरादैच् है और अन्तिम सूत्र 'अ अ' है ' इस ग्रन्थ में जो कमियाँ आचार्य वररुचि कात्यायन को दिखी उनपर उन्होंने वार्तिकों की रचना की। जो आचार्य पाणिनि द्वारा बताया गया अथवा छूट गया अथवा दोषपूर्ण बताया गया उन सभी पर कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की है। सूत्र और वार्तिकों की व्याख्या करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरणमहाभाष्य नामक ग्रन्थ लिखकर अष्टाध्यायी के सूत्रों को पुनः प्रतिष्ठित किया। इन मुनित्रय के सिद्धान्तों के आधार पर भट्टोजिदीक्षित ने वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी नामक प्रक्रिया ग्रन्थ की रचना की। इनके शिष्य वरदराजाचार्य ने सारसिद्धान्त कौमुदी, मध्यसिद्धान्त कौमुदी और लघुसिद्धान्त कौमुदी की रचना की, जिनमें अष्टाध्यायी के 1275 सूत्रों का वर्णन है। यही ग्रन्थ वर्तमान में व्याकरणशास्त्र के रूप में छात्र—छात्राओं को पढ़ाये जाते हैं।

प्रकृति एवं प्रत्यय के अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन व्याकरण नामक वेदाङ्ग प्रस्तुत करता है। शब्दों का अनुशासन करना व्याकरणशास्त्र का सामान्य प्रयोजन है। महर्षि पतञ्जलि ने रक्षा, उह, आगम, लघु और असन्देह इन पाँच को व्याकरण के प्रमुख प्रयोजन बताये हैं। वेद के छह अङ्गों में व्याकरण प्रधान है। परब्रह्म की प्राप्ति के लिए वेद का ज्ञान अनिवार्य है और वेद का ज्ञान व्याकरण के अभाव में सम्भव नहीं है। व्याकरण का अध्ययन लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के फलों को प्रदान करने के कारण उत्तम तप माना गया है। इसलिए व्याकरण का ज्ञान सभी के लिए अपरिहार्य है।

1.10 पारिभाषिक शब्दावली

प्रातिपदिक – जिसमें सुप् प्रत्यय अथवा तिङ् प्रत्यय लगता है, ऐसे सभी सार्थक शब्द जो न तो धातु होते हैं और न ही प्रत्यय।

सम्प्रसारण – य, व, र, ल के स्थान पर क्रमशः इ, उ, ऋ और लृ का प्रयोग सम्प्रसारण कहलाता है।

यम – वर्गों के आदि चार वर्णों में से किसी एक से परे किसी भी वर्ग की पञ्चम वर्ण आए तो उनके मध्य पूर्व वर्ण के सदृश जो ध्वनि होती है, उसे यम कहते हैं। यथा – पलिकनीः, चख्नुधुः, जग्मतुः और जध्नुः।

पद – शब्द अथवा धातु से जब प्रत्यय लग जाते हैं तब वे पद बन जाते हैं। संस्कृतभाषा में पदों का ही प्रयोग होता है। जैसे – राम शब्द है और रामः पद। इसी प्रकार गम् धातु है और गच्छति पद।

वृत्ति – पद जब अपना मूल अर्थ पूर्ण रूप या आंशिक रूप से छोड़कर, किसी विशिष्ट अर्थ को बताने लगता है तब उसे वृत्ति कहा जाता है। ये पांच होते हैं – कृदन्तवृत्ति, तद्धितवृत्ति, समासवृत्ति, एकशेषवृत्ति और सनाद्यन्तवृत्ति।

वैयाकरण – व्याकरणशास्त्र के मूर्धन्य आचार्यों का उल्लेख इस संज्ञा पद से होता है।

वर्णलोप – विद्यमान वर्ण का न दिखाई देना लोप कहलाता है।

वर्णविपर्यय – कई बाद शब्दों का उच्चारण करते समय वक्ता उन शब्दों में स्थित वर्णों के क्रम में परिवर्तन कर देते हैं। इस प्रवृत्ति को वर्णविपर्यय की संज्ञा प्राप्त है।

आगम – उच्चारण के समय मुख सुख के लिए अथवा व्याकरण के नियमानुसार शब्दों में अतिरिक्त वर्ण जोड़ने को आगम कहते हैं।

अन्तेवासी – गुरुकुल में पढ़ने वाला छात्र।

अर्थवाद – वेद की प्रशंसा करने वाले वाक्य।

1.11 बोधप्रश्न

- 1- शिक्षा नामक वेदांग के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
- 2- प्रातिशाख्य ग्रन्थों के प्रतिपाद्य का वर्णन करते हुए प्रमुख प्रातिशाख्य ग्रन्थों का परिचय दीजिए।
- 3- प्रमुख शिक्षा ग्रन्थों का उल्लेख कीजिए।
- 4- वेदाङ्ग-शिक्षा के प्रयोजनों का निरूपण कीजिए।
- 5- व्याकरण शास्त्र के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

6- पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण के प्रयोजनो पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

1.12 सन्दर्भग्रन्थ –सूची

- 1- अष्टाध्यायी, पाणिनि।
- 2- वेदाङ्ग द्वितीय खण्ड, संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास , उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा प्रकाशित, लखनऊ . 1997
- 3- वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी चौखम्भाप्रकाशन, वाराणसी
- 4- लघु सिद्धान्त कौमुदी चौखम्भा प्रकाशन 'वाराणसी ।
- 5- वैदिक साहित्यएवं संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, प्रकाशन ' वाराणसी-1993
- 6- संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका, डॉ बाबू राम सक्सेना, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 2 निरुक्त का प्रयोजन एवं उसका प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 वेदाङ्ग निरुक्तशास्त्र : एक परिचय
- 2.3 निरुक्त का प्रयोजन
 - 2.3.1 प्रथम प्रयोजन : मन्त्रार्थ का ज्ञान
 - 2.3.2 द्वितीय प्रयोजन : पदपाठ का ज्ञान
 - 2.3.3 तृतीय प्रयोजन : वैदिक देवताओं का स्वरूपबोध
- 2.4 निरुक्त का प्रतिपाद्य
 - 2.4.1 पदविभाग
- 2.5 निर्वचन सिद्धान्त
- 2.6 कतिपय महत्वपूर्ण पदों का निर्वचन
 - 2.6.1 निघण्टु- निघण्टवः कस्मात् – निघण्टु को निघण्टु क्यों कहा जाता है?
 - 2.6.2 गौ- गौः कस्मात् – गौ को गौ क्यों कहते हैं?
 - 2.6.3 आचार्यः-आचार्यः कस्मात्-आचार्य को आचार्य क्यों कहते हैं?
 - 2.6.4 समुद्रः कस्मात् – समुद्र को समुद्र क्यों कहते हैं ?
 - 2.6.5 अग्निः – अग्निः कस्मात् – अग्नि को अग्नि क्यों कहते हैं?
- 2.7 निरुक्त में वर्णित वेदार्थ पद्धति
 - 2.7.1 याज्ञिक
 - 2.7.2 ऐतिहासिक तथा आख्यान
 - 2.7.3 नैरुक्त
 - 2.7.4 अधिदैवत
 - 2.7.5 परिव्राजक तथा अध्यात्म
 - 2.7.6 वैयाकरण
 - 2.7.7 विधि
- 2.8 निरुक्त में देवताओं का स्वरूप
- 2.9 सारांश
- 2.10 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.11 सन्दर्भग्रन्थ –सूची
- 2.12 बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप –

- वेदाङ्ग निरुक्तशास्त्र एवं उससे सम्बन्धित आचार्यों से भली-भाँति परिचित हो जाएंगे।
- निरुक्त शास्त्र के सभी प्रयोजनों से अवगत हो जाएंगे।

- नाम, आख्यात, उपसर्गएवं निपात इन चारों पद-विभागों एवं भाव के छह विकारों को समझ जायेंगे।
- निर्वचन के सभी सिद्धान्तों से अवगत हो जाएंगे।
- वैदिक देवताओं के स्वरूप से परिचित हो जाएंगे।
- महत्वपूर्ण वैदिक आख्यानों से अवगत हो जाएंगे।

2.1 प्रस्तावना

आप जानते हैं कि, वेदाङ्ग में दो शब्द हैं – वेद और अङ्ग। वेद के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद अपने-अपने मन्त्रभाग, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकएवं उपनिषदों के साथ आते हैं तथा अङ्ग उन्हें कहते हैं – जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता प्राप्त होती है। इसलिए सम्पूर्ण वेद का अर्थ जानने में तथा उनमें वर्णित यज्ञादि-अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने में जो शास्त्र उपयोगी हैं, उन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। वेद मन्त्रों के शुद्ध उच्चारणएवं वास्तविक अर्थ-ज्ञान के लिए आचार्यों ने इन वेदाङ्गों का निर्माण किया था। इनके छह अङ्गों शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष में निरुक्त श्रोत्र-स्थानीय है क्योंकि इसके अध्ययन के बिना मनुष्य कानों के रहते हुए भी वेद में स्थित अर्थ को जानने और समझने की दृष्टि से बधिर ही है। जन-साधारण को मन्त्रों में स्थित केवल भौतिक अर्थ का ही बोध होता है, लेकिन उन्हें मन्त्रों में स्थित आधिदैविक और आध्यात्मिक-अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए वेदार्थ को ठीक से समझने के लिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है। आचार्य सायण ने निरुक्त के दो लक्षण बताये हैं। पहले लक्षण के अनुसार-शब्दों से अर्थ निकालने के लिए पदों के समूह का जहाँ स्वतन्त्ररूप से कथन किया गया है, उस वेदाङ्ग का नाम निरुक्त है। (अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तन्निरुक्तम्) तथा दूसरा लक्षण कहता है कि-एक-एक पद के सम्भावित अवयवार्थ धातु और प्रत्यय के अर्थ जहाँ पूर्णरूप से बताये गए हैं, वह भी निरुक्त है। (एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थ यत्र निःशेषेण उच्यन्ते तदपि निरुक्तम्) इन दोनों लक्षणों से यह स्पष्ट है कि वेद मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए निरुक्त के रूप में शब्दों का निर्वचन करने की आवश्यकता पड़ी।

2.2 वेदाङ्ग निरुक्तशास्त्र : एक परिचय

निरुक्त शब्द का अर्थ है-व्युत्पत्ति। प्रत्येक शब्द में कोई न कोई क्रिया निहित होती है, इस आधार पर शब्द का निर्वचन करना निरुक्ति है। इसलिए निर्वचनशास्त्र को निरुक्त कहते हैं। यह कठिन और महत्वपूर्ण वैदिक शब्दों की व्याख्या करता है। निरुक्त जिन वैदिक शब्दों की व्याख्या करता है, निघण्टु में उन्ही शब्दों का संकलन है। प्राचीन काल से ही आचार्यों के मध्य निघण्टु-ग्रंथों की संख्या को लेकर मतभेद है, परन्तु वे इस बात पर एकमत हैं कि वर्तमान में एक ही निघण्टु ग्रंथ उपलब्ध है, जिस पर आचार्य यास्क ने निरुक्त नामक टीका लिखी है। निरुक्तशास्त्र में भाषा विज्ञान के आधारभूत सिद्धांत मिलते हैं इसलिए आधुनिक तुलनात्मक भाषा विज्ञान का यह आधार ग्रंथ कहा गया है। वेदांग साहित्य में निरुक्त शब्द का प्रयोग किसी ग्रंथ विशेष के लिए न होकर एक शास्त्र के रूप में हुआ है। प्राचीन काल में निरुक्तशास्त्र से संबंधित अनेक ग्रंथ विद्यमान थे, जिनका परिचय वैदिक-मंत्रों से संबंधित भाष्यों में प्राप्त होता है। यास्क ने भी अनेक आचार्यों के नामएवं उनके सिद्धान्तों का उल्लेख अपने निरुक्त में किया है। उन्होंने कुल बारह अन्य निरुक्तकारों के नाम से उनके मतों का परिचय

दिया है। इन आचार्यों के नाम हैं – अग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, औणर्वाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्पायणि, शाकपूणि, स्थौलाष्टीवि आदि।

वर्तमान में यास्क रचित निरुक्त इस शास्त्र का प्रतिनिधि ग्रंथ है। इस निरुक्त में कुल बारह अध्याय हैं, इसके अतिरिक्त दो अध्याय परिशिष्ट रूप में हैं। इस प्रकार यास्क का निरुक्त कुल 14 अध्यायों में विभक्त है। निरुक्त एवं व्याकरण में यह अन्तर है कि व्याकरण नामक वेदाङ्ग जहाँ शब्दों की शुद्धि और अशुद्धि पर विचार करता है, शब्द-रचना के लिए धातु और प्रत्यय का विभाजन तथा शब्दों के लिंग, वचन, कारक आदि पर विचार करता है, वहीं निरुक्त नामक वेदाङ्ग अर्थबोध की प्रक्रिया पर विचार करता है। इस प्रकार अपने प्रतिपाद्य के कारण निरुक्त और व्याकरण का अत्यन्तघनिष्ठ संबंध है लेकिन व्याकरण केवल उन्हीं शब्दों का निर्वचन करता है जिनमें क्रिया प्रत्यक्ष होती है जबकि निरुक्त परोक्ष क्रियायुक्त शब्दों के भी अर्थ ढूँढने की चेष्टा करता है। वह सभी शब्दों में व्याकरण के धातु एवं प्रत्ययों को सुनिश्चित करने के अतिरिक्त ध्वनि नियमों एवं लोक-प्रवृत्ति का आश्रय लेकर नवीन धातुओं की कल्पना करता है तथा शब्द को देखकर उसमें धातु-प्रत्यय आदि के उहन या कल्पना की पद्धति बताता है।

निरुक्तकार यास्क आचार्य पाणिनि से प्राचीन हैं। इस बात का प्रमाण निरुक्त साहित्य में उपलब्ध है। यास्क ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह पाणिनिग्रन्थ – अष्टाध्यायी के नियमों से प्राचीन है। महाभारत में भी यास्क का नामोल्लेख है, जिसके आधार पर यास्क का समय 700-800 वर्ष विक्रम पूर्व निश्चित होता है। ग्रन्थ के प्रारंभ में ही यास्क ने वेदार्थानुशीलन सम्बन्धी अनेक सम्प्रदायों की चर्चा की है जो वेद-मन्त्रों की विविध प्रकार से व्याख्या करते हैं। उनकी व्याख्या पद्धति को आधिदैवत, अध्यात्म, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक तथा याज्ञिक आदि नामों से जाना जाता है। यास्क के चिन्तन एवं सिद्धान्तों का बहुत अधिक प्रभाव परवर्ती वेदभाष्यकारों पर पड़ा है। सायण ने यास्कीय पद्धति का आश्रय लेकर ही लगभग सभी वेदों का भाष्य किया है। यास्क का निरुक्त स्वयं निघण्टु नामक ग्रन्थ की टीका है किन्तु उसकी व्याख्या पद्धति को उचित ढंग से समझने के लिए अनेक आचार्यों द्वारा उस पर टीका लिखी गई है। वर्तमान में निरुक्त पर दुर्गाचार्य-वृत्ति प्राप्त होती है। निरुक्त की एक पाण्डित्यपूर्ण टीका स्कन्दमहेश्वर द्वारा लिखी गई है। एक और निरुक्त विषयिनी टीका 'निरुक्त निचय' के नाम से प्राप्त होती है जिसके रचनाकार वररुचि नामक आचार्य हैं। यह निरुक्त की साक्षात् व्याख्या नहीं है बल्कि निरुक्त के सिद्धान्तों की 100 श्लोकों में स्वतन्त्र व्याख्या है।

2.3 निरुक्त का प्रयोजन

निरुक्त की प्रधान प्रयोजन वेद के वास्तविक अर्थ का अनुसन्धान करना है। अतः वैदिक शब्दों का अर्थ निर्धारण निर्वचन का प्रधान लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही निरुक्तशास्त्र की रचना हुई थी। यास्क निरुक्त के प्रथम अध्याय के पाँचवे पाद में उक्त प्रयोजनों का उल्लेख करते हैं—

2.3.1 प्रथम प्रयोजन : मन्त्रार्थ का ज्ञान

निरुक्त का प्रयोजन मन्त्रों का अर्थज्ञान कराना है। मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान उनमें प्रयुक्त पदों के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। इसी कारण निरुक्त में पदों के अर्थ निर्धारण की पद्धति बतलायी गई है। यास्क के अनुसार निरुक्त का प्रमुख प्रयोजन मन्त्रार्थ का

अवबोध करना है। इस तथ्य को स्थापित करने के लिए वे पूर्वपक्षी के रूप में इस मत के विरुद्ध तर्कों को प्रस्तुत करते हैं पुनः सिद्धांत के रूप में मन्त्रों को सार्थक सिद्ध करते हुए निरुक्त की आवश्यकता पर बल देते हैं।

2.3.2 द्वितीय प्रयोजन : पदपाठ का ज्ञान

मन्त्रों का सम्यक् रूप से पदपाठ करने के लिए निरुक्त के ज्ञान की महती आवश्यकता है। मन्त्रों में प्रयुक्त पदों के अर्थज्ञान के अभाव में पदपाठ सम्भव नहीं है। पदों में स्थित अर्थ का ज्ञान निरुक्त ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए निरुक्त के अध्ययन का दूसरा प्रयोजन मन्त्रों में पदपाठ को उचित ढंग से करने की क्षमता विकसित करना है।

2.3.3 तृतीय प्रयोजन : वैदिक देवताओं का स्वरूपबोध

यास्क कहते हैं कि मन्त्रों में अनेक देवताएँ हैं जिनके चिह्न मन्त्रों में विद्यमान हैं, उन्हें देखकर मन्त्र के देवता का ज्ञान हो जाता है किन्तु जिन मन्त्रों में देवताओं के किसी भी चिह्न का उल्लेख नहीं है, ऐसी स्थिति में उस मन्त्र का देवता सम्बन्धी निर्णय करने के लिए निरुक्त के अध्ययन की आवश्यकता है। संहिताओं में बहुत से मन्त्रएँ भी हैं जिनमें चिह्न किसी और देवता का दिखाई पड़ता है किन्तु मन्त्र का देवता कोई अन्य ही है। इस प्रकार की दृष्टिकुशलता का विकास निरुक्त ज्ञान से ही सम्भव है।

यास्क कहते हैं कि निरुक्त का अन्य प्रयोजन यह है कि इसके अध्ययन से व्यक्ति वेदार्थ ज्ञान में निपुण हो जाता है। वैदिक समाज में उसके ज्ञान की प्रशंसा होती है और जो व्यक्ति निरुक्त का अध्ययन नहीं करता उसकी निन्दा होती है। इसलिए भी निरुक्त का अध्ययन करना चाहिए।

2.4 निरुक्त का प्रतिपाद्य

निरुक्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—निर्वचन। यास्क ने निघण्टु में संकलित पदों का निर्वचन किया है। इस कार्य को करने के साथ ही कुछ विशिष्ट मन्त्रों की व्याख्या भी की है। उनके द्वारा व्याख्या सम्पन्न मन्त्रों की संख्या लगभग 600 है। शेष वेद—मन्त्रों की व्याख्या में उन्हीं मन्त्रों की व्याख्या पद्धति के अनुसरण का निर्देश दिया है। जिस निघण्टु पर यास्क ने भाष्य की रचना की है। वह पाँच अध्यायों में बँटा है। जिसमें कुल 1341 शब्दों का संग्रह है। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक — काण्ड कहलाते हैं तथा चौथा अध्याय नैगम अथवा ऐकपदिक काण्ड कहलाता है। पाँचवें अध्याय का नाम दैवत काण्ड है। ऐकपदिक श्रेणी में 279 उन पदों का संकलन है, जिनके धातुओं का पता नहीं है। निघण्टु का प्रथम शब्द गो और अन्तिम शब्द देवपत्नी है। निरुक्त इसी निघण्टु के पदों का निर्वचन है। यास्क ने निघण्टु के 230 शब्दों की धातु के अर्थ के अनुसार व्याख्या की है और साथ में बहुत से पदों की व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। इसमें कुल 1771 शब्दों के निर्वचन उपलब्ध होते हैं। यास्क ने निघण्टु शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि अनेक निघण्टु उस समय प्रचलित थे। इस समय निघण्टु के अतिरिक्त वैदिक शब्दों का एक और संकलन अथर्ववेदीय परिशिष्ट के रूप में प्राप्त है। इसमें रोदसी प्रथम शब्द है, जिसके बारह पर्याय दिए गए हैं। यास्क के निरुक्त से सम्बन्धित निघण्टु की रचना किसने की है, इस विषय पर आचार्यों में मतभेद है। यास्क ने स्वयं अपने निरुक्त में अनेक निघण्टुओं एवं निरुक्त रचनाकारों का उल्लेख किया है। निघण्टुओं में शाकपूणि का निघण्टु सबसे प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध निरुक्तकार दुर्गाचार्य के अनुसार उपलब्ध निघण्टुओं का संकलन अनेक ऋषियों द्वारा

किया गया है। महाभारत में प्रजापति कश्यप को निघण्टु का रचयिता कहा गया है। एक अन्य आचार्य मधुसूदन सरस्वती यास्क को ही निघण्टु के पदों का संकलनकर्ता मानते हैं। निरुक्त की प्रथम पंक्ति है— समाम्नातः स व्याख्यातव्यः, इसका अर्थ है कि यास्क ने पहले वैदिक शब्दों को चुन-चुन के एकत्र किया, फिर उन चुने हुए शब्दों का निर्वचन (व्याख्या) किया। मन्त्रार्थज्ञान और देवविद्या के साथ पदों का निर्वचन निरुक्त का मुख्य वर्ण्य विषय है। निघण्टु में संकलित शब्दों के निर्वचन के प्रसंग में यास्क ने वे मन्त्र अथवा मन्त्रांश लिए हैं जिनके शब्दों का उनके द्वारा निर्वचन किया गया है। सम्पूर्ण ऋग्वेद के 800 मन्त्र या मन्त्रान्श ग्रहण किए हैं। मन्त्रों का अर्थ करने में वे प्रायः कठिन शब्दों के लौकिक पर्याय देते हैं अथवा उन शब्दों का निर्वचन करके उनका अर्थ बताते हैं। इस कार्य में आवश्यकतानुसार मन्त्र का उचित अर्थ प्राप्त हो सके इसके लिए वे इतिहास एवं प्राचीन आख्यान का भी उल्लेख करते हैं। मन्त्र का अर्थ करते समय मन्त्र के शब्दों के स्वरूप या उसके निर्वचन में अन्य आचार्यों से मतभेद होने पर, उसकी भी चर्चा करते हैं। अन्त में समीक्षा करके तत्त्वनिर्णय करते हैं। मन्त्रों के अर्थ में यदि दृष्टि-भेद से अंतर आता है तो वह उन दृष्टिकोणों से भी मन्त्रों का अर्थ करते हैं। यास्क जहाँ निर्वचन की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, उसे वैसे ही छोड़ देते हैं। देवविद्या को भी यास्क ने दो भागों में बांटा है। प्रथम भाग में देवताओं से संबंधित आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन और द्वितीय भाग में वैदिक देवताओं का स्वरूप निरूपण हुआ है। यास्क ने देवताओं के नामों का आधियज्ञिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से निर्वचन किया है। उदाहरण के लिए अग्नि देवता का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं— अग्नि अग्रणी भवति तथा अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अर्थात् सभी देवताओं में अग्रणी होने के कारण यह देवता अग्नि है और यज्ञों में सर्वप्रथम इस का प्रणयन किये जाने के कारण यह अग्नि है। ये दोनों निर्वचन उसके आधिदैवत स्वरूप को प्रकट करते हैं। अंगं नयति सन्ममनः, आ अक्नोपो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। ये दोनों निर्वचन अग्नि के आधिभौतिक स्वरूप को प्रकट करते हैं। यास्क के मत में देवता कोई अलौकिक वस्तु नहीं, अपितु प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले अग्नि, वायु सूर्य आदि पदार्थ हैं तथा एक आत्मा की भिन्न-भिन्न विभूतियाँ हैं। अग्नि, इन्द्र आदि विभिन्न नाम अलग अलग कर्मों के सम्पादन के कारण पड़े हैं।

निर्वचन को भी यास्क ने दो भागों में विभाजित किया है। निर्वचन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए प्रथम अध्याय में उपोद्घात तथा दूसरे अध्याय में निर्वचन के सिद्धान्त और निर्वचन शास्त्र के अधिकारी की चर्चा है। तत्पश्चात् शब्दों की यथाक्रम व्याख्या है। शब्द-निर्वचन में शब्दों की प्रकृति तथा उनमें होने वाले विकार को ध्यान में रखकर वर्णसाम्य की दृष्टि से निर्वचन है और अर्थ निर्वचन के अन्तर्गत अर्थ-साम्य के आधार पर शब्दों का निर्वचन है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में पदों के चार विभाग — नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात एवं निरुक्त के प्रयोजनों की चर्चा है। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में निर्वचन के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है तथा इसी अध्याय के द्वितीय पाद से गौ शब्द से शब्दों का निर्वचन प्रारम्भ हो गया है। यहाँ से लेकर तीसरे अध्याय तक का नाम नैघण्टुक काण्ड है। चौथे अध्याय का नाम नैगम काण्ड है। इसमें विभिन्न शब्दों के निर्वचन हैं। सातवें अध्याय से दैवत-काण्ड प्रारम्भ हुआ है जिसमें देवताओं के स्वरूप का वर्णन है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर भक्ति-साहचर्य एवं अग्निभक्ति, इन्द्रभक्ति, आदित्यभक्ति-साहचर्य का वर्णन तत्पश्चात् गायत्री आदि वैदिक छन्दों का निर्वचन है। आठवें अध्याय में आप्री देवताओं के साथ कुछ विशिष्ट देवताओं और अन्त में उषा आदि वैदिक देवियों का वर्णन है। नवें अध्याय में लौकिक शब्दों के निर्वचन हैं। दसवें और ग्यारहवें अध्याय में

अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं के नामों का निर्वचन है। **बारहवें** अध्याय में द्युस्थानीय देवताओं के नामों का निर्वचन हुआ है। **तेरहवें अध्याय** में अग्नि, वरुण, इन्द्र और आदित्य, अश्विनौ, सोम, यज्ञ, वाक् इत्यादि महत्वपूर्ण देवताओं का निर्वचन है। अन्तिमएवं **चौदहवें अध्याय** में सृष्टि की उत्पत्ति सहित अनेक लौकिक विषयों का वर्णन प्राप्त होता है।

निरुक्त में लगभग उन्नीस वैदिक आख्यानों का उल्लेख हुआ है। इसमें त्रित, देवापि तथा शान्तनु, मुद्गला, भार्म्यएव, विश्वकर्मा, भौवन, विश्वामित्र—नदी—संवाद और सरण्यू तथा विवस्वान् ये ऐतिहासिक आख्यान हैं। यम तथा यमी संवाद, वृत्त तथा वर्तिका, सरमा और पणि संवाद को आख्यान कहते हैं। इसके अतिरिक्त अगस्त्य और इन्द्र, इन्द्र तथा वृत्र, उर्वशी तथा मैत्रावरुण, वसिष्ठ, कुरुंग, ग्रत्समद तथा कपिञ्जल, च्यवन—च्यवान, जालबद्ध मत्स्य, दक्ष और अदिति, भग का अन्धत्वएवं श्येन तथा सोम आख्यान को बिना किसी नामोल्लेख के प्रस्तुत किया है। सत्य यह है कि आचार्य यास्क उपर्युक्त आख्यानों को अर्थवाद प्रशंसापरक अथवा उपमार्थक मानते हैं। मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों को आख्यान प्रिय थे इसलिए उन्होंने मन्त्रों में स्थित रहस्यात्मक अर्थ से भिन्न मुख्यार्थ के रूप में आख्यानों को प्रस्तुत किया है।

2.4.1 पदविभाग

निरुक्त में पद के चार प्रकार बताए गए हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनको हम पद की जातियाँ भी कह सकते हैं।

• नाम —

नाम का लक्षण है— सत्वप्रधानानि नामानि अर्थात् जिसमें सत्व की प्रधानता होती है वे नाम कहलाते हैं। सत्व का अर्थ है— द्रव्य जो वस्तु मात्र का बोधक होता है। नाम पदों में इसी द्रव्य का प्राधान्य रहता है। जैसेघटः, पटः और धनम् इत्यादि। द्रव्यों के बोधक मूल शब्द प्रतिपादिक होते हैं जिनमें सुप् विभक्तियाँ लगती हैं तथा लिङ्ग और वचन का बोध होता है। व्याकरण शास्त्र में यही सुबन्त कहे जाते हैं। जैसे— देवदत्तः।

• आख्यात—

भावप्रधानमाख्यातम् अर्थात् जिसमें भाव की प्रधानता होती है, उसे आख्यात कहते हैं। भाव का अर्थ है— क्रिया। जैसे— पठति। इसमें पढ़ने की क्रिया का बोध होता है। आख्यात क्रियावाचक होता है इसलिए इसमें लिङ्गभेद नहीं होता है किन्तु इसमें प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष तथा तीनों वचन होते हैं। यहाँ पर साध्यावस्था की क्रिया का वर्णन होता है, जब कि नाम में सिद्धावस्था की क्रिया का बोध होता है। आख्यात के उदाहरण हैं— पचति, गच्छति, पठति और लिखति इत्यादि।

इस क्रिया के छह विकार बताये गये हैं —

क. **जायते** — जायते इति अर्थात् उत्पन्न होता है। यह अवस्था क्रिया के प्रारम्भ को बताती है किन्तु दूसरी कोई क्रिया अस्तित्व में है, न इसको बतलाती है और न ही इसका निषेध करती है।

ख. **अस्ति** —अस्ति इति अर्थात् अस्तित्व में है। यह अवस्था उत्पन्न हुई वस्तु की विद्यमानता को कहता है किन्तु अपनी परवर्ती क्रिया विकार को न तो बताती है

और न विरोध करती है।

- ग. **विपरिणमते** – विपरिणमते अर्थात् परिवर्तित होता है। दूसरे शब्दों में यह परिवर्तन की अवस्था के प्रारम्भ को कहता है। यह क्रिया अपने परवर्ती क्रिया को न बतलाती है और न निषेध करती है।
- घ. **वर्धते**– वर्धते इति वृद्धि को प्राप्त करता है। यह क्रिया अङ्गों की वृद्धि को अथवा पदार्थों की वृद्धि को कहती है तथा परवर्ती क्रिया का न तो कथन करती है और न निषेध करती है।
- ङ. **अपक्षीयते** – अपक्षीयते अर्थात् क्षीण होता है। यह क्रिया अङ्गों के अथवा पदार्थों की क्षीणता का कथन करती है। यह अपनी परवर्ती क्रिया का न कथन करती है और न निषेध करती है।
- च. **विनश्यति**–अर्थात् नष्ट होता है यह विनाश के प्रारम्भ को बताती है। यह अपने पूर्ववर्ती क्रिया को न कहती है और न निषेध करती है।

इस प्रकार से किसी भी वस्तु के छह क्रिया – विकार होते हैं। यह आचार्य वार्षायणि का मत है, जिसे यास्क ने अपने निरुक्त में उद्धृत किया है।

- **उपसर्ग**– यास्क आ, प्र, परा, अभि, प्रति और परि इत्यादि बीस उपसर्ग मानते हैं, जो नाम और आख्यात आदि में जुड़ कर अर्थ की वृद्धि कर देते हैं।
- **निपात**– ये अलग अलग अर्थों में कहीं भी गिरते हैं या प्रयोग होते हैं, इस लिए इन्हें निपात कहते हैं। यास्क ने निरुक्त में मन्त्रों में प्रयुक्त निपातों का उदाहरण देकर उनके अर्थों पर विचार किया है।

2.5 निर्वचन सिद्धान्त

यास्क के अनुसार वैदिक पदों के वास्तविक अर्थ को प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयास करना चाहिए। इसके लिए कुछ निश्चित नियमों का पालन अनिवार्य है। यास्क ने स्वयं भी उन्हीं नियमों का आश्रय लेकर निघण्टु के पदों का निर्वचन किया है। संक्षेप में वे नियम इस प्रकार से हैं –

कोई शब्द व्याकरण के नियमों से सरलतापूर्वक व्युत्पन्न हो रहा हो उसमें उदात्त –अनुदात्त एवं स्वरित आदि स्वर तथा व्याकरण की दृष्टि से लगने वाले प्रत्यय एवं धातु परिवर्तन में कोई बाधा न हो तो उसका व्याकरण के अनुसार निर्वचन करना चाहिए।

यदि स्वर एवं व्याकरण की प्रक्रिया शब्द के अर्थ के अनुकूल न हो तथा उचित धातु विकार भी न हो तबऐसी दशा में शब्द के प्रचलित अर्थ को आधार बना कर वर्ण की वृत्तियों के आधार पर परीक्षण करते हुए, शब्द का निर्वचन करना चाहिए।

यदि किसीऐसे शब्द का निर्वचन करना है जिसमें किसी भी वृत्ति के अर्थ में कोई समानता न हो।ऐसी दशा में उस शब्द के किसी अक्षर से युक्त अन्य शब्द अथवा उसके अर्थ से समानता की परख करके निर्वचन करना चाहिए। यास्क का विचार है कि प्रत्येक दशा में शब्द का निर्वचन करना चाहिए, इसके लिए व्याकरण–प्रक्रिया से बंधे रहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि किसी शब्द के शुद्धता अथवा अशुद्धता का प्रतिपादन करने वाली व्याकरण की सभी वृत्तियाँ चाहे वह कृत, तद्धित, समास या धातु में से कोई भी हों, ये पूर्ण रूप से वैज्ञानिक हैं, यह मात्र अनुमान है।

यास्क के अनुसार धातु में अकारादि स्वर के ठीक पूर्व अथवा पश्चात् अन्तस्थ वर्ण य, व, र, ल होते हैं। ऐसे स्थलों पर अर्थ सम्प्रसारण अथवा असम्प्रसारण दोनों को ध्यान में रखकर करना चाहिए। एक प्रकार से न बन सके तो दूसरे प्रकार से अर्थ कर लेना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से इष्ट शब्द इच्छार्थक इष धातु से बना हुआ प्रतीत होता है किन्तु अर्थ देख कर लगे कि इष्ट शब्द इच्छा अर्थ में नहीं है तब इसका निर्वचन यज् धातु से कर लेना चाहिए।

वर्णों का आगम, वर्णों के आदि में अथवा अन्त में विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्णनाश तथा किसी भी धातु का उसके भिन्न अर्थ के साथ योग-ये निरुक्त के पाँच प्रकार हैं। इनको ध्यान में रखकर ही शब्दों का निर्वचन करना चाहिए। ऐसा करना इसलिए उचित है क्योंकि उपर्युक्त सभी विकार शब्दों को अनुशासित करने वाले शब्दशास्त्र व्याकरण में भी प्राप्त होते हैं।

वेद में जो कृदन्त शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से कतिपय बोलचाल की धातुओं से सीधे निर्मित हैं, इस प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर निर्वचन करना चाहिए। वेद में प्रयुक्त तिङन्त रूप वाले धातुओं से बोलचाल के कृदन्त शब्द सम्बद्ध हैं। जैसे दाह करने के अर्थ वाला उष् धातु वैदिक है परन्तु इससे निर्मित उष्ण शब्द लोक में प्रचलित है। इसी प्रकार घृ धातु बहने अर्थ में वेद में प्राप्त है और उससे निर्मित 'घी' शब्द लोक में प्रचलित है।

मन्त्रों में कहीं केवल आख्यात (क्रिया रूप) का प्रयोग होता है तो कहीं उनसे निष्पन्न नामपदों का प्रयोग होता है, ऐसा देखा गया है। गति के अर्थ में शव धातु का आख्यात के रूप में कुछ विशिष्ट स्थानों (काबुल, कान्धार, बलोचिस्तान) पर होता है। जब कि आर्य प्रदेशों में 'शव' शब्द का प्रयोग मृत शरीर के लिए होता है। इन बातों को भी ध्यान में रखकर निर्वचन करना चाहिए।

2.5.1 तद्धित और समास वृत्ति से बने एकल या एकाधिक पदों के मेल से बने शब्दों में पहले पूर्व पद का उसके बाद उत्तर पद का निर्वचन करना चाहिए। जैसे— दण्ड्यः पुरुषः में दण्ड्य का निर्वचन है—दण्ड के योग्य अथवा दण्ड से युक्त। दण्ड शब्द धारण करने के अर्थ की ददधातु से बना है जबकि आचार्य औपमन्यव दण्ड का निर्वचन दमन अर्थ युक्त दम् धातु से मानते हैं। इस प्रकार से राजपुरुष अर्थात् राजा का आदमी। इसमें राजा स्वामी होना अर्थ में राज् धातु से और पुरुष = पुर+सद् अथवा पुर+शी अथवा पुरि धातु से निर्मित बताया जाता है। पुर का अर्थ शास्त्रों में शरीर किया गया है। इसके साथ सद् धातु बैठने अर्थ में अर्थात् जो पुर में स्थित है, वह पुरुष है। शी धातु शयन अर्थ में प्रयोग होता है इसलिए जो पुर में शयन करे, वह पुरुष है। पूरि धातु भरने के अर्थ में प्रयोग होता है। इस आधार पर जो पुर में व्याप्त हो, वह पुरुष है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अर्थ को ध्यान में रख कर व्याकरण की वृत्ति तद्धित और समास द्वारा निर्वचन करना चाहिए।

एक शब्द अलग अलग स्थितियों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगता है, ऐसी स्थिति में अनिवार्य हो जाता है कि निर्वचन करते समय उन सभी अर्थों का ध्यान रखा जाए। जिन शब्दों के अर्थ लगभग एक जैसे होते हैं उन शब्दों का निर्वचन भी एक जैसा ही करना चाहिए। निरुक्त के आचार्य अर्थानुकूल व्याकरण-प्रक्रिया वाले और धातुगत अर्थ से युक्त शब्द को प्रत्यक्षवृत्ति की श्रेणी में रखते हैं। अर्थ के अनुकूल न होने तथा व्याकरण प्रक्रिया के स्पष्ट न होने पर दूसरे शब्दों में यदि शब्द में उसके मूल का विकार स्पष्ट रूप से न दिखाई पड़ता हो तो ये शब्द परोक्षवृत्ति की श्रेणी में आते हैं।

प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों में कृदन्त शब्दों की अपेक्षा तद्धित तथा समासवृत्ति से निष्पन्न शब्द अधिक विलिप्त होते हैं। अतः शब्द की वृत्ति का निश्चय करके उस वृत्ति के अनुसार शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसके अवयव शब्दों का निर्वचन किया जाना चाहिए। अपरोक्षवृत्ति शब्द के अर्थ से मिलते जुलते तथा उसमें विद्यमान अक्षरों अथवा वर्णों से युक्त किसी अन्य शब्द से उस शब्द का निर्वचन कर लेना चाहिए। ऐसे शब्दों के निर्वचन में अर्थ के साथ-साथ अक्षरों के ध्वनि समानता पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। बहुत से शब्दों का विद्यमान स्वरूप उनके मूल से ध्वनियों की दृष्टि से बहुत बदल जाता है। कभी-कभी यह बदलाव इतना बड़ा होता है कि विश्वास करना मुश्किल हो जाता है।

प्रत्यक्षवृत्तियुक्त विद्यमान शब्द में आधारभूत शब्द सम्बन्धी अक्षरों का लोप हो जाता है यह लोप शब्द के आदि मध्य और अन्त कहीं भी हो जाता है। बोलते समय वर्णों को खा जाने के आदत से मध्यम वर्ण का लोप हो जाता है यह भी देखा जाता है कि एक समान कई ध्वनियाँ हों तो उनमें से किसी एक ध्वनि का लोप हो जाता है। शब्दों के उच्चारण पर देश-काल भेद आदि अनेक कारणों से प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप कुछ समय बाद मूल ध्वनि स्थायी रूप से बदल जाती है। यह बदलाव विकार के रूप में देखा गया है। यास्क ने भाषा की स्वच्छन्द प्रकृति को भी ध्यान रखने पर बल दिया है। सामान्य रूप से शब्दों के प्रयोग में लोग अत्यधिक स्वच्छन्दता बरतते हैं इसका परिणाम यह होता है कि कभी नामपद अप्रचलित रह जाते हैं और उनका क्रियापद प्रचलन में आ जाता है। इसके विपरीत कभी क्रियापद अप्रचलित रह जाता है और नामपद पर व्यवहार में आ जाता है। निर्वचन करते समय इस लोकव्यवहार का ध्यान भी रखना चाहिए। नैरुक्त को व्याकरण शास्त्र से अभिज्ञ रहते हुए भी शुद्धरूप से वैयाकरण नहीं बनना चाहिए अर्थात् व्याकरण की प्रक्रिया के प्रति अतिशय अनुराग नहीं होना चाहिए। यास्क का मानना है कि जब तक शब्द का अर्थ विदित न हो तब तक मात्र एक या दो प्रसंग के आधार पर शब्द का निर्वचन नहीं करना चाहिए। प्रकरण बदलने पर प्रायः शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रकरण के अनुसार अलग-अलग रीति से शब्दों का निर्वचन करना चाहिए। निर्वचन की एक महत्वपूर्ण दृष्टि यह है कि शब्दों की किसी अर्थ में प्रवृत्ति उनके बनावट के आधार पर सर्वत्र नहीं होती। प्रायः किसी अर्थ में शब्द के प्रचलित हो जाने पर उस अर्थ से किसी प्रकार की समानता को देखकर, उस अर्थ से मिलते जुलते दूसरे अर्थ में यह शब्द प्रयोग होने लगता है। यास्क इसे सामान्य का नाम देते हैं। अतः शब्द का अर्थ समझते समय सामान्य सादृश्य के इस सिद्धांत पर दृष्टि रखना आवश्यक है।

2.6 कतिपय महत्वपूर्ण पदों का निर्वचन

2.6.1 निघण्टु- निघण्टवः कस्मात् – निघण्टु को निघण्टु क्यों कहा जाता है?

- निगमा इमे भवन्ति – क्योंकि ये शब्द निश्चय से अर्थ का बोध कराने वाले होते हैं। अतः इनका नाम निघण्टु पड़ा।
- छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः क्योंकि ये गौ आदि शब्द मन्त्रों से चुन-चुनकर एकत्र किए गए हैं। अतः इनका नाम निघण्टु पड़ा।
- ते निगन्तवएव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इति औपमन्यव :- ये शब्द निश्चय पूर्वक अर्थ का बोध कराने के कारण निगन्तु ही होते हुए निघण्टु कहे जाने लगे।

2.6.2 गौ- गौः कस्मात् – गौ को गौ क्यों कहते हैं?

- गौरिति पृथिव्याः नामधेयम्, यद् दूरङ्गता भवति – यह पृथिवी का नाम है।
–क्योंकि यह दूर तक गई हुई है।
- यच्च अस्यां भूतानि गच्छन्ति क्योंकि इसपर प्राणी गति करते हैं।
- गातेर्वोकारोनामकरणः – गाङ्गतौ धातु से ओकार प्रत्यय करके गो बन जाएगा।

2.6.3 आचार्यः-आचार्यः कस्मात्-आचार्य को आचार्य क्यों कहते हैं?

- आचार्यः आचारं ग्राहयति – क्योंकि वह विद्यार्थी को आचार सिखाता है।
- आचिनोत्यर्थान् – पदों के अर्थों को चुनता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म पद के अर्थ का विद्यार्थी को दर्शन कराता है।
- आचिनोति बुद्धिमिति – क्योंकि आचार्य विद्यार्थी में बुद्धि का संचय करता है, उसे बढ़ाता है, इसलिए उसको आचार्य कहते हैं।

2.6.4 समुद्रः कस्मात् – समुद्र को समुद्र क्यों कहते हैं ?

- समुद् द्रवन्ति अस्मादापः – क्योंकि इससे जल तरङ्गों के रूप में उठते हैं।
- समभिः द्रवन्ति एनमापः क्योंकि इसमें जल सब ओर इकट्ठे होकर अभिमुख हो कर प्राप्त होते हैं।
- सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि –क्योंकि इसमें जलचर प्राणी खुश होते हैं।
- समुद्को भवति – क्योंकि यह बहुत जल वाला है। उद्, यह जल का वाचक है।
- समुनत्तीति वा क्योंकि यह भिगोता है इसलिए समुद्र है।

2.6.5 अग्निः – अग्निः कस्मात् – अग्नि को अग्नि क्यों कहते हैं?

- अग्रणीः भवति –क्योंकि यह सभी देवताओं में अग्रणी होता है।
- अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते- क्योंकि यज्ञों में सर्वप्रथम वही ले आया जाता है।
- अङ्गं नयति समन्ममानः – क्योंकि वह काष्ठ आदि को अपना अङ्ग बना लेता है।
- अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः स्थौलाष्ठीवि आचार्य का कहना है क्योंकि यह अक्नोपन होता है अर्थात् इसमें नमी का अभाव होता है। न क्नोपयति न स्नेहयति –क्योंकि यह नम नहीं करता है, न स्निग्ध करता है बल्कि विरुक्षी करोति इति अर्थः- सुखा देता है इसलिए अग्नि कहा जाता है।

2.7 निरुक्त में वर्णित वेदार्थ पद्धति

निरुक्त नामक वेदाङ्ग की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें भिन्न –भिन्न प्रकार से वेदार्थ करने वाले सम्प्रदायों का वर्णन है। ये सम्प्रदाय हैं- याज्ञिक, ऐतिहासिक, आख्यानपरक, नैरुक्त, अधिदैवत, परिव्राजक, अध्यात्म, वैयाकरण और विधिपरक। इन वेदार्थ-सम्प्रदायों को जानने से आप सबको निरुक्त नामक वेदाङ्ग को समझने में सहायता मिलेगी।

2.7.1 याज्ञिक

प्राचीन काल में लगभग आदि अधिकांश आचार्यों का दृढ़विश्वास था कि वेदों का मुख्य प्रयोजन यज्ञादि अनुष्ठान को सम्पन्न कराना है। आचार्य सायण, उव्वट, महीधर के यजुर्वेद – भाष्य, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ वेंकटमाधव और सायण के ऋग्वेद-भाष्य, माधव, भरतस्वामी तथा गुणविष्णु के सामवेद-भाष्य तथा सायण का अथर्ववेद-भाष्य ये सभी यज्ञ पद्धति के आधार पर किये गये भाष्य हैं। यह वेदमन्त्रों की व्याख्या करने वाला सबसे प्राचीन और समृद्ध सम्प्रदाय है। यास्क ने अपने निरुक्त में सात स्थानों पर याज्ञिकों का उल्लेख किया है तथा अनेक मन्त्रों की व्याख्या भी इसी पद्धति से की है। लेकिन वे स्वयं इस पद्धति को वेदार्थ जानने की सर्वोत्तम पद्धति नहीं मानते हैं।

2.7.2 ऐतिहासिक तथा आख्यान

इस संप्रदाय के आचार्य इतिहास अथवा आख्यान को वैदिक मन्त्रों के मूल में स्वीकार करते हैं और उसी के अनुसार मन्त्रों की व्याख्या करते हैं यास्क ने ऐतिहासिकों का तीन और आख्यान संप्रदाय का पांच स्थलों पर उल्लेख किया है। यह संप्रदाय पुराणसाहित्य के विकास के मूल में है। यास्क ने अपने ग्रंथ में कुल 19 वैदिक आख्यानों का उल्लेख किया है। इसी वर्ग के एक अन्य सम्प्रदाय नैदान का उल्लेख भी यास्क ने निरुक्त में दो स्थलों पर किया है। यास्क, दुर्गाचार्य और स्कन्द स्वामी आदि अनेक नैरुक्त इतिहास और आख्यान को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ये इतिहास अथवा आख्यान वेदार्थ की प्रशंसा में लिखे गए रूपकात्मक अर्थवाद हैं।

2.7.3 नैरुक्त

नैरुक्त परम्परा के आचार्य वेदमन्त्रों का अर्थ निर्वचनात्मक पद्धति से करते हैं। यास्क स्वयं इस परम्परा के हैं। सम्भवतः यास्क से पूर्व तेरह नैरुक्त-आचार्य हो चुके हैं। इनका स्थान चौदहवां माना जाता है और इनका निरुक्त इस सम्प्रदाय का उपलब्ध, उपादेय एवं लोकप्रिय ग्रन्थ है।

2.7.4 अधिदैवत

यास्क ने इस वेदार्थ पद्धति का निरुक्त में पांच बार उल्लेख करते हुए, इस पद्धति के अनुसार कुछ मन्त्रों की व्याख्या की है। अधिदैवतपद्धति में वैदिक मन्त्रों का अर्थ देवताओं को केन्द्र में रख कर किया जाता है। इस पद्धति एवं नैरुक्त पद्धति में अत्यधिक समानता दिखाई पड़ती है।

2.7.5 परिव्राजक तथा अध्यात्म

निरुक्त में यास्क ने परिव्राजक – सम्प्रदाय का उल्लेख मात्र एक बार किया है। यह सम्भवतः सन्यासियों का सम्प्रदाय था, जो वेदमन्त्रों की वैराग्यपरक व्याख्या करता था। यास्क ने अध्यात्म सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है तथा कुछ मन्त्रों की व्याख्या इस रीति से भी की है। निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी परिव्राजक और अध्यात्मपद्धति दोनों को एक मानते हैं क्योंकि दोनों पद्धतियाँ वेदमन्त्रों की रहस्यात्मक, आध्यात्मिक और दार्शनिक व्याख्या करती हैं।

2.7.6 वैयाकरण

निरुक्त में वैयाकरणों के मत का भी उल्लेख है। निरुक्त के परिशिष्ट भाग में ऋग्वेद 1/164/45 संख्या वाले मन्त्र की व्याख्या व्याकरण शास्त्र के आधार पर हुई है।

2.7.7 विधि

यास्क ने वसिष्ठ आदि आचार्यों के मतों का संकेत करते हुए सम्पत्ति आदि के उतराधिकार के प्रसङ्ग में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों की व्याख्या की है।

स्पष्ट है कि यास्क के पूर्व भी वेद मन्त्रों की व्याख्या विविध दृष्टियों से हो रही थी। यास्क ने अनेक मन्त्रों की व्याख्या याज्ञिक दृष्टि तथा कुछ मन्त्रों की व्याख्या अधिदैवत एवं अध्यात्मपद्धति से की है। उस समय अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म ये तीन ही वेदार्थ पद्धतियाँ प्रमुख थीं।

2.8 निरुक्त में देवताओं का स्वरूप

आप सब जानते हैं कि देवविद्या निरुक्त का प्रधान प्रतिपाद्य है। सातवें अध्याय में वैदिक देवविज्ञान की भूमिका है। यास्क आदि आचार्यों का दृढ़ मत है कि प्रत्येक मन्त्र का कोई न कोई देवता होता ही है। मन्त्रों में देवताओं को पहचानने के लिए उन्होंने मन्त्रों को तीन वर्ग बनाये हैं –

- परोक्षकृत मन्त्र – इस वर्ग में वे मन्त्र आते हैं, जिनमें प्रथम पुरुष की क्रियापदों का प्रयोग है।
- प्रत्यक्षकृत मन्त्र – इस वर्ग के मन्त्रों में क्रियापद मध्यम पुरुष में प्रयुक्त है।
- आध्यात्मिक मन्त्र – इस वर्ग के मन्त्रों में क्रियापद उत्तम पुरुष के रूप में दिखाई पड़ती है।

ऋचाओं का यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है। निरुक्त में सामान्य जन के लिए देवता के अधियज्ञिय, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों रूपों का वर्णन है। देवता शब्द का निर्वचन है – ये दान देने, प्रकाशित होने, प्रकाशित करने अथवा द्युलोक में रहने के कारण देवता कहे जाते हैं – “देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा।”

मन्त्रों का अध्ययन करते समय ऋषि छन्द, विनियोग के साथ ही देवता तत्त्व को भी प्रयत्न पूर्वक जानना चाहिए तभी वैदिक मन्त्रों का प्रयोग सार्थक सिद्ध होगा। “ऋषि जिस कामना को लेकर जिस देवता की प्रधानता चाहते हुए स्तुति करता है, उसी देवता का वह मन्त्र होता है।” जिन मन्त्रों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देवता का उल्लेख नहीं है उस मन्त्र का जिस यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग में विनियोग हो रहा हो, उस यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग का देवता ही मन्त्र का देवता होता है। आचार्य शौनक ने भी अपने ग्रन्थ वृहदेवता में इस बात को स्वीकार किया है। यज्ञ से भिन्न अन्य स्थानों पर याज्ञिक सम्प्रदाय के लोग प्रजापति को और नैरुक्त नाराशंस को देवता मानते हैं। मन्त्रों में कहीं-कहीं देव भिन्न वस्तुओं की भी देवता के समान स्तुति देखी गई है। जैसे अश्व या औषधिया, दृषद् –उपल इत्यादि। वेद में बहुसंख्यक देवताओं का उल्लेख है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में तैंतीस देवताओं तथा यजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता में देवताओं की संख्या 3339 बताई गई है। यास्क का मानना है कि अपनी महिमा के कारण एक ही आत्मा का वर्णन भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में दिखलाई पड़ता है। तात्पर्य यह है कि ऋषिगण उस एक ईश्वरीय सत्ता को ही इन्द्र, मित्र, वरुण इत्यादि नामों से पुकारते हैं।

यास्क के मत में तीन प्रधान देवता हैं –पृथिवीस्थानीयदेवता-अग्नि। अन्तरिक्ष स्थानीयदेवता- इन्द्र अथवा वायु और द्युस्थानीयदेवता-सूर्य।

निरुक्त में देवताओं का स्वरूप के संबंध में तीन विचारधाराएं हैं। प्रथम विचार धारा के अनुसार देवता मनुष्यों के समान होते हैं और उनकी स्तुति चैतन्य प्राणियों के समान की जाती है। इसीलिए इंद्र की मन्त्रात्मकस्तुति में उसकी दोनों भुजाओं की प्रशंसा की गई है। दूसरी विचारधारा के अनुसार देवताओं का स्वरूप मनुष्यों के समान नहीं है। जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, पृथ्वी और चंद्रमा आदि का भौतिक स्वरूप। तीसरी विचारधारा के अनुसार मन्त्रों में जड वस्तुओं की स्तुति चेतन प्राणियों के समान की गई है क्योंकि उनका स्वरूप उभयात्मक है।

निरुक्त के सप्तम अध्याय में अग्नि एवं पृथिवीस्थानीय देवों एवं उनसे सम्बन्धित वस्तुओं का वर्णन है। जैसे— अग्नि का सम्बन्ध पृथिवीलोक, प्रातःसवन, वसन्तऋतु, गायत्री छन्द, रथन्तर साम, अग्नायी तथा इला आदि स्त्रियों से है। इनका प्रमुख कार्य हविर्वहन तथा यज्ञ में देवताओं का आह्वान बताया गया है। इन्द्रदेवता से सम्बन्धित वस्तुएं हैं—अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्मऋतु, त्रिष्टुप्छन्द, वृहत्साम, अन्य अन्तरिक्षस्थ देवता तथा अन्तरिक्षस्थ स्त्रियाँ। इनका प्रमुख कर्म है — रसानुप्रदान, वृत्रवध तथा बलविषयक अन्य कृत्य। आदित्य से सम्बद्ध वस्तुएँ तथा कार्य है — स्वर्गलोक , तृतीयसवन, वर्षाऋतु, जगतीछन्द, वैरूपसामएवं स्वर्ग की स्त्रियाँ। इनका प्रमुख कार्य किरणों द्वारा रसग्रहण इत्यादि है।

निरुक्त के देवविज्ञान की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं। जैसे यहाँ पर अग्नि के जातवेदस्एवं वैश्वानर, द्रविणोदा (बल या धनप्रदान करने वाला) स्वरूपों का देवताओं के रूप में वर्णन है। आप्री देवताओं के रूप में इध्म (यज्ञ का ईन्धन) तनूनपात् (अग्नि अथवाघृत) नाराशंस, इड, बर्हि (कुशा), द्वार, उषासानक्ता (उषा और रात्रि), दैव्या , होतारा (अग्नि के भिन्न स्वरूप), इडा, भारती और सरस्वती नामक देवियों के साथ त्वष्टा, द्यावापृथिवी, वनस्पति तथा स्वाहाकृतियों का भी उल्लेख है। इसके साथ ही अश्व, शकुनि, मण्डूक, अक्षु, रथ, दुन्दुभि आदि का भी देवताओं के रूप में वर्णन प्राप्त है। गंगा, यमुना आदि नदियों, औषधियों, रात्रि, अरण्यानी, श्रद्धा, पृथिवी, अग्नायी संज्ञक देवियों के नामों का निर्वचन हुआ है। कुछ लौकिक देवता जैसे क्षेत्रस्पति, वास्तोस्पति, वाचस्पति, मन्यु, दधिक्रा, वेन, ऋत, श्येन, सोम, चन्द्रमा, मृत्यु, ऋभुगण, आङ्गिरस, पितरोंएवं भृगुओं का भी वर्णन हुआ है।

2.9 सारांश

स्पष्ट है कि निरुक्त में वेद मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए वैदिक पदों का अनेक प्रकार से निर्वचन किया गया है। ये निर्वचन और निर्वचन की विधियाँ ही निरुक्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यास्क ने निघण्टु में संकलित पदों का निर्वचन करते हुए कुछ विशिष्ट मन्त्रों की व्याख्या भी की है। निघण्टु का प्रथम शब्द गो और अन्तिम शब्द देवपत्नी है। यास्क ने निघण्टु के 230 शब्दों की उनके धातु के अनुसार व्याख्या की है और साथ में बहुत से पदों की व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। यास्क द्वारा रचित निरुक्त से सम्बन्धित निघण्टु के रचनाकार को लेकर आचार्यों में मतभेद है। निघण्टुओं में शाकपूणि का निघण्टु सबसे प्रसिद्ध है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने यास्क को ही निघण्टु का रचयिता माना है। उन्होंने पहले वैदिक शब्दों को चुन-चुन करएकत्र किया, तत्पश्चात् उन चुने हुए शब्दों का निर्वचन किया। यास्क ने देवताओं से संबंधित आधारभूत सिद्धांतों की चर्चा की है। जिसके अन्तर्गत वैदिक देवताओं का स्वरूप निरूपण हुआ है। यास्क के मत में देवता कोई अलौकिक वस्तु नहीं, अपितु प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि पदार्थ ही हैं। ये सब देवता उनके मत

में एक आत्मा की विभूतियाँ हैं।

निर्वचन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने प्रथम अध्याय में उपोद्घात तथा दूसरे अध्याय में निर्वचन के सिद्धान्त और निर्वचन शास्त्र के अधिकारी की चर्चा की है। यास्क ने जिन सिद्धान्तों के आधार पर वैदिक शब्दों का निर्वचन किया है उसमें से कुछ प्रमुख हैं – जिन शब्दों में स्वर और व्याकरण सम्बन्धी प्रत्यय से होने वाले परिवर्तन अर्थ के अनुकूल हों तो शब्दों का निर्वचन व्याकरण के अनुसार करना चाहिए। जब स्वर और उच्चारण की प्रक्रिया शब्द के अर्थ के अनुकूल न हो तथा उचित धातु का विकार भी नहीं हो, तब उस शब्द के प्रचलित अर्थ को आधार बना कर उसकी कृत्, तद्धितधातु, समास आदि वृत्ति की समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिए किन्तु यदि निर्वचनीय शब्द और उसमें सम्भावित किसी भी वृत्ति में से किसी के साथ अर्थ की समानता न हो तो ऐसी दशा में उस शब्द के किसी वर्ण या अक्षर की अन्य वर्ण या अक्षर से समानता ढूँढकर निर्वचन करना चाहिए।

अर्थ का परिज्ञान कराने के कारण निरुक्त अन्य वेदांगों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण होता है। शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान निरुक्त द्वारा सम्भव है। निरुक्त के अनुसार सभी शब्द किसी न किसी धातु से बने होते हैं। इस कारण से शब्द चाहे नाम हों अथवा आख्यात धातु से व्युत्पन्न हैं। यही आधुनिक भाषा विज्ञान का मूल विचार है। निरुक्त भाषाशास्त्र की दृष्टि से एक अनुपम रत्न है।

यास्क ने अपने पूर्ववर्ती 12 निरुक्तकारों के नाम एवं उनके निर्वचन संबंधी विचारों को अपने निरुक्त में स्थान दिया है। इस कारण से यह ग्रन्थ और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। किन्तु इसको समझने के लिए अनेक आचार्यों के द्वारा इसकी टीका लिखी गई है। निरुक्त की प्रसिद्ध टीका है—दुर्गाचार्यवृत्ति, स्कंदमहेश्वर रचित निरुक्त टीका—‘स्कन्द महेश्वरवृत्ति’। निघण्टु पर देवराज यज्वा का भाष्य उपलब्ध है, जिसमें पदों की व्याख्या में पाणिनीय—व्याकरण और भोजराज—व्याकरण से सहायता ली गई है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी, हिंदी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी निरुक्त के अध्ययन और अनुवाद हुए हैं। निरुक्त के अध्येताओं में रॉथ सत्यव्रत शामश्रमिक, स्कॉल्ड, विष्णुपद भट्टाचार्य, वीके राजवाड़े, डॉ लक्ष्मण स्वरूप, सिद्धेश्वर वर्मा तथा शिव नारायण शास्त्री का नाम मुख्य है। वैदिक ग्रंथों में सर्वाधिक संस्करण निरुक्त के ही प्रकाशित हैं। निरुक्त का अध्ययन प्राचीन काल में जितना महत्वपूर्ण था वेदों के भाष्य की दृष्टि से आज भी उतना ही प्रासंगिक है।

2.10 पारिभाषिक शब्दावली

संहिता—वेदों के मन्त्रभाग को संहिता के नाम से जाना जाता है। जैसे ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता तथा अथर्ववेदसंहिता।

ब्राह्मण—वेदों के मन्त्रभाग की गद्यात्मक व्याख्या करने वाला भाग ब्राह्मण कहलाता है। सभी वेदों के अपने ब्राह्मणग्रन्थ हैं। प्रमुख ब्राह्मणों के नाम हैं—ऐतरेयब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, तैत्तिरीयब्राह्मण, ताड्यब्राह्मण, गोपथब्राह्मण।

आरण्यक— ब्राह्मणभाग का उत्तरवर्तीभाग आरण्यक है। इसमें प्राणविद्या का वर्णन हुआ है।

उपनिषद् — वेदों के अन्तिमभाग को वेदान्त अथवा उपनिषद् कहते हैं। इसमें

ब्रह्मविद्या, आत्माएवं सृष्टि वर्णन इत्यादि का प्रतिपादन प्रमुख रूप से हुआ है।

नैरुक्त – निरुक्त की रचना करने वाले सभी आचार्य।

वैयाकरण – व्याकरण के आचार्य जैसे – महर्षिपाणिनि, वररुचिकात्यायन, पतञ्जलि आदि।

प्रातिपदिक – जिसमें सुप् प्रत्यय अथवा तिङ् प्रत्यय लगता है, ऐसे सभी सार्थक शब्द जो न तो धातु होते हैं और न ही प्रत्यय।

याज्ञिक – यज्ञ से संबंधित अथवा यज्ञ करने और कराने वाले।

सम्प्रसारण – य, व, र, ल के स्थान पर क्रमशः इ, उ, ऋ और लृ का प्रयोग सम्प्रसारण कहलाता है।

पद – शब्द अथवा धातु से जब प्रत्यय लग जाते हैं तब वे पद बन जाते हैं। संस्कृतभाषा में पदों का ही प्रयोग होता है। जैसे – राम शब्द है और रामः पद। इसी प्रकार गम् धातु है और गच्छति पद।

वृत्ति – पद जब अपना मूल अर्थ पूर्ण रूप या आंशिक रूप से छोड़कर, किसी विशिष्ट अर्थ को बताने लगता है तब उसे वृत्ति कहा जाता है। ये पांच होते हैं – कृदन्तवृत्ति, तद्धितवृत्ति, समासवृत्ति, एकशेषवृत्ति और सनाद्यन्तवृत्ति।

विकार – विकार का अर्थ है परिवर्तन। जब कोई वर्ण परिवर्तित होकर किसी अन्य वर्ण का रूप धारण कर लेता है तो उस नये वर्ण को पुराने वर्ण का विकार कहा जाता है।

2.11 सन्दर्भग्रन्थ – सूची

- 1- निरुक्त – श्रीपरमेश्वरानन्दशास्त्रि स संदृष्ट्या वेदानुबन्धि – विविध – ज्ञातव्य विषय – पूर्णतया भूमिकया सनायितम्। महामहोपाध्याय श्रीछज्जूरामशास्त्रिणाविद्यासागरेण ... श्रीभगीरथशास्त्रिणा कृतया हिन्दी व्याख्ययोपोद्धलितम् – मेहरचन्द – लछमनदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली संस्करण – 2019.
- 2- वेदाङ्ग द्वितीय खण्ड, संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा प्रकाशित, लखनऊ . 1997
- 3- निरुक्त, प्रो० उमाशंकर शर्मा, 'ऋषि', चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
- 4- निरुक्त, डॉ० जमुना पाठक, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2018
- 5- वैदिक साहित्यएवं संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, प्रकाशन, वाराणसी-1993

2.12 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय

- 1- निरुक्तशास्त्र का वेदाङ्ग के रूप में परिचय दीजिए।
- 2- निरुक्त के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
- 3- निरुक्त नामक वेदाङ्ग के प्रयोजनों की विस्तार से चर्चा कीजिए।

- 4- यास्क के पूर्ववर्ती निरुक्तकारों का नामोल्लेख करते हुए विभिन्न वेदार्थ पद्धतियों का निरूपण कीजिए।
- 5- यास्क के निर्वचन सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।
- 6- निरुक्त के प्रतिपाद्य पर एक निबंध लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न –

- 1- निरुक्त के अनुसार पदविभाग बताइए।
- 2- निरुक्त के प्रयोजनों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
- 3- निरुक्त के प्रमुख आचार्यों का उल्लेख कीजिए।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 3 छन्दस् एवं कल्प का प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 वेदांगों में छन्दस् वेदांग का संक्षिप्त परिचय
 - 3.2.1 छन्दस्शास्त्र का उद्भव
- 3.3 विषय की दृष्टि से छन्दस् वेदांग एवं वैदिक छन्दों की उत्पत्ति
- 3.4 छन्दस् वेदांग का महत्त्व
- 3.5 प्रमुख वैदिक छन्दों का परिचय
- 3.6 कल्प वेदांग का संक्षिप्त परिचय एवं इसके प्रणयन का उद्देश्य
 - 3.6.1 कल्प वेदांग के अन्तर्गत श्रौत सूत्र
 - 3.6.2 कल्प वेदांग के अन्तर्गत शुल्ब सूत्र
 - 3.6.3 कल्प वेदांग के अन्तर्गत गृह्य सूत्र
 - 3.6.4 कल्प वेदांग के अन्तर्गत धर्म सूत्र
 - 3.6.5 कल्प वेदांग के अन्तर्गत पितृमेधसूत्र
 - 3.6.6 कल्प वेदांग के अन्तर्गत प्रवर सूत्र
- 3.7 वैदिक शाखाओं के अनुसार श्रौत सूत्रों का विवेचन
 - 3.7.1 ऋग्वेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र
 - 3.7.1.1 ऋग्वेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य
 - 3.7.2 यजुर्वेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र
 - 3.7.2.1 यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य
 - 3.7.3 सामवेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र
 - 3.7.3.1 सामवेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य
 - 3.7.4 अथर्ववेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र
 - 3.7.4.1 अथर्ववेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य
- 3.8 वैदिक शाखाओं के अनुसार गृह्य सूत्रों का विवेचन
 - 3.8.1 ऋग्वेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र
 - 3.8.2 यजुर्वेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र
 - 3.8.3 सामवेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र
 - 3.8.4 अथर्ववेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र
- 3.9 वैदिक शाखाओं के अनुसार धर्म सूत्रों का विवेचन
 - 3.9.1 ऋग्वेद की शाखाओं के धर्मसूत्र
 - 3.9.2 यजुर्वेद की शाखाओं के धर्मसूत्र
 - 3.9.3 सामवेद की शाखाओं के धर्म सूत्र
 - 3.9.4 अथर्ववेद की शाखाओं के धर्म सूत्र
- 3.10 सारांश
- 3.11 शब्दावलियाँ

- 3.12 अभ्यास प्रश्न
- 3.13 बोध प्रश्नों के उत्तर
- 3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

छन्दस् एवं कल्प वेदांग के प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य विषय पर केन्द्रित इस इकाई के अध्ययन के बाद आप—

- वेदांगों के स्वरूप से आप परिचित होंगे।
- विशेष रूप से छन्दस् एवं कल्प वेदांग से परिचित हो सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप वैदिक छन्दों के विकास एवं उनके स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप वेदांगों के अन्तर्गत प्रतिपादित कल्प वेदांग के सभी विषयों को भी समझ सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप श्रौत सूत्रों के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप शुल्ब सूत्रों के परिचय के माध्यम से विभिन्न प्रकार की वेदियों के स्वरूप को भी जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप आचार एवं व्यवहार शास्त्र के प्रतिपादक धर्मसूत्रों के स्वरूप से परिचित हो जायेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि किस प्रकार गृह्य सूत्रों के माध्यम से संस्कारों का स्वरूप निश्चित हुआ।

3.1 प्रस्तावना

मुण्डकोपनिषद् में महर्षि अंगिरा ने आचार्य शौनक को यह उपदेश दिया था कि — ब्रह्मविद्या के जो ज्ञाता हैं, जिन्हें हम ब्रह्मविद् कहते हैं, उनके अनुसार दो विद्यायें जानने योग्य हैं। एक है परा और दूसरी अपरा विद्या। परा का तात्पर्य है परमात्म विद्या और धर्म, अधर्म के साधन और उनके परिणाम को बताने वाली विद्या है, अपरा विद्या। आगे इसी की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष अर्थात् वेद और वेदांग का परिगणन अपरा विद्या के अन्तर्गत है। परा विद्या वह है जिससे अक्षर का अधिगम हो जाय अथवा प्राप्ति हो जाय, वह परा विद्या है। अक्षर अर्थात् परमात्मा।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामिति। मुण्डकोपनिषद् 1.1.5

वेद के अध्ययन, चिन्तन और मनन की परम्परा निर्बाध गति से हजारों हजारों वर्ष तक चलती रही लेकिन कालक्रम में वेद के उच्चारण पद्धति तथा यज्ञ आदि के अनुष्ठान में कोई त्रुटि न हो जाय, इसके लिये हमारे ऋषियों ने वेद के विज्ञान के रूप में छः सहायक विज्ञान का स्वरूप निश्चित किया। इन्हें हम वेदांग के रूप में जानते हैं। ये छः वेदांग हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

1. शिक्षा या Science of Phonetics,

2. कल्प अर्थात् Science of Rituals
3. व्याकरण अर्थात् Science of Grammar
4. निरुक्त अर्थात् Science of Etymology
5. छन्द अर्थात् Science of Prosody
6. ज्योतिष अर्थात् Science of Astronomy and Astrology

प्रस्तुत इकाई में हमारा उद्देश्य केवल छन्दस्एवं कल्प वेदांग के प्रयोजनएवं प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करना है। अतः सर्वप्रथम छन्दस् वेदांग के स्वरूप, प्रयोजनएवं प्रतिपाद्य का विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त कल्प वेदांग के ऊपर चर्चा की जायेगी ।

3.2 वेदांगों में छन्दस् वेदांग का संक्षिप्त परिचय

पाणिनीय शिक्षा में निम्नलिखित सन्दर्भ प्राप्त होता है—

छन्दः पादः तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।

ज्योतिषमायनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥

शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ पाणिनीय शिक्षा 41—42

पाणिनीय शिक्षा के इस वचन के अनुसार छन्दस्तत्त्व वेद पुरुष का पाद अर्थात् पैर है। दूसरे रूप में हम यह कह सकते हैं कि छन्द के ज्ञान के बिना वेद के अध्ययन में हमारी कोई गति नहीं हो सकती है । पैर का कार्य है स्थिरताएवं गति प्रदान करना। अतः छन्द का ज्ञान वेद के अर्थ को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसका ज्ञान हो जाने पर अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इसी के ज्ञान से सृष्टि यज्ञ का कार्य सम्पन्न होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद के अर्थ को समझने के लिये छन्द का ज्ञान आवश्यक है। जहां तक छन्दों के प्राचीनता का प्रश्न है, छन्द उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मन्त्रमयी वाणी। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में छन्दों का आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक तीनों रूपों में विवेचन किया गया है। इसका प्रमाण हमें मुख्य रूप से ऋग्वेद, यजुर्वेदएवं अथर्ववेद के पुरुष सूक्त में प्राप्त होता है। यहां परम पुरुष से छन्द के उद्भव का प्रतिपादन किया गया है। **छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्, ऋग्वेद 10.90.9।** अथर्ववेदीय पुरुष सूक्त में भी इसी बात को **छन्दो ह जज्ञिरे** के रूप में कहा गया है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि वेद के अध्ययन के लिये छन्द केवल उपकारक साधन ही नहीं माना जाता है, अपितु छन्दःशास्त्र का स्वतन्त्र विद्यास्थान भी है।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति 1.3

छन्द शब्द का अर्थ भी हमें वैदिक साहित्य में ही देखना चाहिये। निरुक्तकार महर्षि यास्क कहते हैं — **छन्दांसि छादनात् ।** छादन करने से ये छन्द हैं। **छाद्यते छन्द्यते वा अनेन ।** छन्द ही मन्त्रों का परिमाण बताते है। इस शास्त्र की इतनी प्रसिद्धि हुई कि— इसे विभिन्न नामों से जाना गया है। जैसे कि— छन्दोविचिति, छन्दोमान, छन्दसां लक्षण, छन्दसां विचय, छन्दोऽनुशासन, छन्दोविवृति तथा वृत्त ।

3.2.1 छन्दःशास्त्र का उद्भव

अब प्रश्न यह उठता है कि छन्दःशास्त्र की परम्परा कहां से प्रारम्भ हुई। वर्तमान में हमारे सामने जो छन्दःशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है, वह है पिंगल का छन्दःसूत्र। इस ग्रन्थ पर यादवप्रकाश की टीका उपलब्ध है। यादवप्रकाश अपनी टीका के अन्त में छन्दःशास्त्र की आचार्य परम्परा का इस प्रकार उल्लेख करते हैं— भगवान् शिव, बृहस्पति, इन्द्र, शुक, माडव्य, सैतव, यास्क,, पिंगल । इसी के साथ एक और परम्परा का उल्लेख मिलता है। वह है — शिव, गुह अर्थात् कार्तिकेय, सनत्कुमार, बृहस्पति, इन्द्र, शेष अर्थात् पतंजलि और पिंगल।

छन्दःशास्त्र के ग्रन्थों जैसे कि **छन्दोऽनुशासन** आदि में अलग-अलग परम्परा का उल्लेख मिलता है लेकिन सभी ने पिंगल के योगदान को स्वीकार किया है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि पिंगल के छन्दःसूत्र के माध्यम से इस विद्या की विशेष प्रतिष्ठा हुई। इसका एक कारण यह भी है कि पिंगल के पूर्व छन्दःशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता है लेकिन वैदिक छन्दों के विषय में हमें पर्याप्त सामग्री जिन ग्रन्थों में प्राप्त होती है, उनमें मुख्य हैं— ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुकमणी, निदानसूत्र, यजुस्सर्वानुकमसूत्र, पिंगलछन्दःसूत्र, उपनिदान सूत्र एवं वेंकटमाधवकृत ऋगर्थदीपिका । छन्दःशास्त्र का इतना विस्तार हुआ कि आगे चलकर इसके दो स्वरूप हो गये— वैदिक और लौकिक, **छन्दसामार्ष लौकिकं च**। उपनिदान सूत्र 1.5

वैदिक साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का स्वरूप लौकिक छन्दों से सर्वथा भिन्न है। लौकिक छन्दों में लघु, गुरु मात्राओं का आश्रय लिया जाता है जबकि वैदिक छन्दों में केवल अक्षरों की ही गणना की जाती है। इसलिये वैदिक छन्द अक्षर छन्द ही हैं। यहां पर हम वेदांग के रूप में छन्दस् वेदांग की चर्चा का रहे हैं इसलिये वैदिक छन्दस् वेदांग की चर्चा ही अभीष्ट है। महर्षि गार्ग्य के उपनिदानसूत्र के अनुसार सात मुख्य छन्द और चौदह अतिछन्द मिलकर इक्कीस छन्द हैं। इनके नाम हैं— 1. गायत्री 2. उष्णिक 3. अनुष्टुप् 4. बृहती 5. पंक्ति 6. त्रिष्टुप् और 7. जगती अतिछन्द के नाम हैं— 1. अतिजगती 2. शक्वरी 3. अतिशक्वरी 4. अष्टि 5. अत्यष्टि 6. धृति 7. अतिधृति 8. कृति 9. प्रकृति 10. आकृति 11. विकृति 12. संकृति 13. अभिकृति 14. उत्कृति

3.3 विषय की दृष्टि से छन्दस् वेदांग एवं वैदिक छन्दों की उत्पत्ति

महर्षि शौनक द्वारा **ऋक् प्रातिशाख्य** नामक ग्रन्थ की रचना की गई है जिसमें कुल अठारह पटल हैं । इनमें अन्तिम तीन पटल के 204 सूत्रों में वैदिक छन्दों का वर्णन किया गया है। महर्षि शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य में 188 छन्दों का वर्णन मिलता है।

इसके अनन्तर एक और आचार्य हुये जिन्होंने **ऋक्सर्वानुकमणी** की रचना की। ये थे आचार्य कात्यायन। आचार्य कात्यायन ने छन्दः प्रकरण को और समृद्ध किया। प्रत्येक संहिता के मन्त्रों में प्रयुक्त छन्दों का वर्णन अनुक्रमणियों में अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया गया है। आचार्य कात्यायन ने ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्रों के छन्दों का निर्देश सर्वानुकमणी में प्रमाण के साथ किया है। यहां पर जो वर्णन प्राप्त होता है वह केवल वैदिक छन्दों के सन्दर्भ में है जबकि पिंगल अपने छन्दःसूत्र में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन करते हैं।

वैदिक छन्दों का आविर्भाव एवं ऋषियों के द्वारा इसके स्वरूप का प्रकटीकरण हम लोगों के लिये बहुत बड़ी देन है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह व्यवस्था एक निश्चित

नियम के अन्तर्गत कार्य करती है। जैसा कि पहले यह कहा जा चुका है कि वैदिक छन्दों की व्यवस्था में अक्षरों की संख्या पर ध्यान दिया जाता है। एक अक्षर या दो अक्षर कम या अधिक हो जाने पर छन्दों का स्वरूप परिवर्तन नहीं होता। यदि किसी छन्द का एक अक्षर कम हो तो उसे **निचृत्** विशेषण से और एक अक्षर अधिक हो तो उसे **भुरिक्** विशेषण से युक्त किया गया है।

उदाहरण के लिये त्रिपदा गायत्री के अक्षरों की संख्या 24 है लेकिन 23 अक्षरों वाली गायत्री को **निचृद् गायत्री** और 25 अक्षरों वाली गायत्री को **भुरिगायत्री** कहा जाता है। इसी प्रकार दो अक्षरों की हीनता वाली गायत्री को **विराट् गायत्री** तथा दो अक्षरों की अधिकता वाली गायत्री को **स्वराट् गायत्री** छन्द से अभिहित किया गया है। इस तरह की व्यवस्था का प्रतिपादन ऋक्सर्वानुक्रमणी में विस्तार के साथ किया गया है और इसके लिये एक पारिभाषिक शब्द दिया गया है जिसे **व्यूहन्** कहते हैं। प्रमुख सात छन्दों में अक्षर संख्या इस प्रकार है:-

1. गायत्री – 24,
2. उष्णिक् – 28
3. अनुष्टुप् – 32
4. बृहती – 36
5. पंक्ति – 40
6. त्रिष्टुप् – 44
7. जगती – 48

उपर्युक्त क्रम में हमें स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि चार-चार अक्षरों की वृद्धि हो रही है। वृद्धि का यह क्रम अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि और धृति छन्द में भी प्रतिपादित है अर्थात् धृति में 72 अक्षर होते हैं।

3.4 छन्दस् वेदांग का महत्त्व

वेद के अर्थ को जानने के लिये सहायक विज्ञान अथवा अंग के रूप में छन्दस् वेदांग का ज्ञान आवश्यक है इसीलिये इसे उपकारक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके महत्त्व का आकलन हम इस रूप में कर सकते हैं कि अग्निचयन में वेदी में जो इष्टिकायें प्रयुक्त होती हैं उन्हें छन्दों के रूप में ग्रहण किया गया है। छन्दों के माध्यम से ही मन्त्रों के परिमाण को बताया जा सकता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के एक मन्त्र में कहा गया है कि- गायत्र छन्द से प्रत्येक स्तोम को मापा जाता है।

वैदिक यज्ञ एवं वैदिक देवशास्त्र में छन्दों का विशेष महत्त्व है। किसी भी मन्त्र में तीन बातें विशेष रूप से जाननी चाहिये, प्रथमतः उस मन्त्र का ऋषि कौन है अर्थात् किस ऋषि के द्वारा उस मन्त्र का साक्षात्कार किया गया है। मन्त्र का देवता कौन है। वस्तुतः मन्त्र में जिसके विषय में कहा जाता है वही उस मन्त्र का देवता होता है, **या तेनोच्यते सा देवता**। मन्त्र का छादन करने करने वाला है - छन्द। इसलिये छन्द के ज्ञान के बिना यज्ञ की क्रिया में प्रवेश नहीं हो सकता है। यही कारण है कि छन्दों को देविका, देव्यः तथा देवताओं का देवता कहा गया है। छन्दों के द्वारा ही देवताओं ने स्वर्गलोक को प्राप्त किया। ये समस्त इच्छाओं की पूर्ति करते हैं तथा शक्ति प्रदान करते हैं। छन्दों के द्वारा यज्ञ में देवताओं को आहुति प्राप्त होती है। इसीलिये इन्हें

साध्या: देवा: कहा गया है।

छन्दस् वेदांग के विषय में यहां तक कहा गया है कि जो छन्द ज्ञान से रहित ब्राह्मण से यज्ञ कराता है या अध्यापन कराता है वहघोर पाप का भागी होता है। ऋग्वेद में छन्दों के देवताओं का उल्लेख किया गया है। गायत्री छन्द का सम्बन्ध अग्नि से है तथा उष्णिक का सविता के साथ सम्बन्ध जुड़ गया। इसी तरह सोम का अनुष्टुप् के साथ तथा बृहस्पति का सम्बन्ध बृहती के साथ है। विराट् ने मित्र और वरुण में अपना आश्रय लिया तथा त्रिष्टुप् छन्द इन्द्र के हिस्से में आया। जगती छन्द ने विश्वेदेवों में प्रवेश किया। यह वर्णन ऋग्वेद 10. 130. 4 एवं 5 में देखा जा सकता है।

3.5 प्रमुख वैदिक छन्दों का परिचय

वस्तुतः छन्दशास्त्र का पूर्ण ज्ञान अत्यन्त कठिन है। लेकिन यह विषय बहुत ही महत्वपूर्ण है इसलिये हमें इसका ज्ञान होना चाहिये। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर प्रारम्भिक सात छन्दों के स्वरूप एवं उनके लक्षण पर यहां विचार किया जा रहा है। इनमें प्रथम है गायत्री छन्द— गायत्री छन्द में विशेषरूप से तीन पाद होते हैं लेकिन किसी-किसी मन्त्र में एक, दो, चार या पांच पाद भी होते हैं। गायत्री छन्द के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। अक्षर संख्या में न्यूनता अथवा अधिकता होने से इसके कई भेद होते हैं लेकिन प्रत्येक पाद में समान आठ अक्षर होने से वह गायत्री नाम से ही कहा जाता है। उदाहरण के लिये ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही गायत्री छन्द में है जिसके प्रत्येक पाद में आठ अक्षर ही हैं। अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।।

1. छन्दशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों में गायत्री छन्द के 26 भेद प्राप्त होते हैं। विस्तार के भय से सभी का वर्णन करना यहां सम्भव नहीं है लेकिन सभी के नाम का स्मरण अवश्य कर लेना चाहिये। त्रिपादा गायत्री के भेद हैं— 1. गायत्री, 2. पादनिचृत गायत्री, 3. अतिपादनिचृत गायत्री, 4. अतिनिचृतगायत्री, 5. अतिनिचृद् गायत्री, 6. वर्धमाना गायत्री, 7. वर्धमाना गायत्रीका द्वितीय भेद, 8. प्रतिष्ठा, 9. वाराही, 10. नागी, 11. यवमध्या, 12. पिपीलिकामध्या, 13. उष्णिग्गर्भा, 14. भुरिक् गायत्री, 15. त्रिपाद विराट्, 16. चतुष्पाद्, 17. पदपंक्ति, 18. पदपंक्ति गायत्री का दूसरा भेद, 19. भुरिक् पदपंक्ति गायत्री, 20 – 21. द्विपादा के दो भेद, 22 – 23. द्विपाद विराट् के दो भेद, 24. स्वराट्, 25. एकपादा।

छन्दशास्त्र के अलग-अलग ग्रन्थों में इन भेद प्रभेदों के विषय में अपने-अपने मत हैं जो विशेष रूप से पाद एवं अक्षर की दृष्टि से किये गये हैं।

2. उष्णिक छन्द— इस छन्द में सामान्य रूप से तीन पाद और 28 अक्षर होते हैं। यदि गायत्री से इसकी तुलना करें तो इस छन्द में चार अक्षर अधिक होते हैं। इसका उष्णिक नाम सम्भवतः इस लिये पड़ा कि इसके बड़े हुये चार अक्षर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं जैसे कि सिर पर पगड़ी अर्थात् उष्णिक। ये चार अक्षर पाद के प्रारम्भ में और अन्त में भी देखे जाते हैं। अक्षर संख्या की वृद्धि के आधार पर ही इसके आठ और भेद हुये हैं। ये भेद हैं— 1. ककुप्, 2. पुरउष्णिक, 3. परोष्णिक, 4. ककुम्यङ्कुशिरा, 5. तनुशिरा, 6. पिपीलिकामध्या, 7. चतुष्पाद और 8. अनुष्टुप्गर्भा।
3. अनुष्टुप् — अनुष्टुप् छन्द में सामान्यतः चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं लेकिन छन्दशास्त्र में अनुष्टुप् के जो भेद प्राप्त होते हैं

उनमे से कयी तीन पाद वाले भी हैं। अनुष्टुप् के अन्य स्वरूप इस प्रकार हैं— 1. पुरस्ताज्ज्योति, 2. मध्येज्ज्योतिः, इसे पिपीलिकामध्या त्रिपाद भी कहते हैं। 3. उपरिष्ठादज्ज्योति, 4. काविराट्, 5. नष्टरूपा, इसे नष्टरूपा इसलिये कहते हैं क्योंकि पादों में विषम संख्या होने के कारण अनुष्टुप् का मूल स्वरूप ही नष्ट हो गया। इसके तीन पादों में क्रमशः 9, 10 एवं 13 अक्षर होते हैं। 6. विराट्, तीस अक्षर वाला एवं 33 अक्षर वाला। 8. चतुष्पाद् अनुष्टुप्, 9. पादैरनुष्टुप्, 10 महापदपंक्ति— इसमें 31 अक्षर के छः पाद होते हैं।

4. **बृहती**— बृहती छन्द 36 अक्षर का होता है अर्थात् इसमें अनुष्टुप् से चार अक्षर अधिक होते हैं। बृहती छन्द में सामान्यतः चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में नौ-नौ अक्षर होते हैं। पादों में अक्षर संख्या के आधार पर इसके भी अनेक भेद हैं जो इस प्रकार हैं— 1. **बृहती**, प्रत्येक पाद में समान अक्षर तथा वह बृहती जिसके दो पादों में 10-10 तथा तीसरे एवं चौथे पाद में 8-8 अक्षर। 3. **पुरस्ताद्बृहती**—प्रथम पाद में 12 तथा अन्य तीन में 8-8 अक्षर। 4. उरोबृहती, 5. पथ्या या सिद्धा बृहती, 6. उपरिष्ठाद् बृहती, 7. विष्टार बृहती, 8. विषमपदाबृहती, 9. महा बृहती या सतो बृहती या ऊर्ध्वबृहती, इसे विराडूर्ध्व बृहती एवं त्रिपदा बृहती भी कहते हैं।

5. **पंक्ति**— यदि बृहती से इसकी तुलना करें तों इस छन्द में बृहती से चार अक्षर अधिक होते हैं अर्थात् इसमें चालीस अक्षर होते हैं। पंक्ति छन्द में भी सामान्यतः चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में 10-10 अक्षर होते हैं। अक्षरों की पाद व्यवस्था के कारण पंक्ति छन्द के भी कयी भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं—1. सतः पंक्ति, इसके दो प्रकार हैं। 3. आस्तार पंक्ति, 4. प्रस्तार पंक्ति, 5. संस्तार पंक्ति, 6. विष्टारपंक्ति, 7. आर्षी पंक्ति, 8. विराट् पंक्ति, इसका एक अन्य भेद भी प्राप्त होता है। 10. पथ्या पंक्ति, 11. पद पंक्ति, इसके भी दो भेद हैं। 13. अक्षर पंक्ति, इस छन्द के भी दो भेद हैं। 15. द्विपदा पंक्ति अथवा द्विपदाविष्टारपंक्ति या विराट्पंक्ति, 16. जगतीपंक्ति या विस्तार पंक्ति।

6. **त्रिष्टुप् छन्द**— त्रिष्टुप् छन्द में कुल मिलाकर 44 अक्षर होते हैं। इसके प्रत्येक पाद में 11-11 अक्षर होते हैं लेकिन दूसरे छन्दों की तरह त्रिष्टुप् के भी अनेक भेद होते हैं। भेद की दृष्टि से वस्तुतः त्रिष्टुप् सबसे आगे है क्योंकि इनका संख्या कुल मिलाकर 21 है। यहां पर केवल नामोल्लेख ही किया जा सकता है। त्रिष्टुप् के अन्य भेद इस प्रकार हैं— 1. त्रिष्टुप्, 2. जागती त्रिष्टुप्, 3. अभिसारणी, 4. विराट्स्थाना, 5. विराट्स्थाना, 6. विराट्स्थाना, विराट्स्थाना, वस्तुतः विराट्स्थाना के तीन भेद हैं। 7. विराड्रूपा, 8. पुरस्ताज्ज्योतिः, 9. मध्येज्ज्योतिः, 10. उपरिष्ठाज्ज्योतिः, 11. पुरस्ताज्ज्योतिः का दूसरा भेद, 12. मध्येज्ज्योतिः का दूसरा भेद 13. उपरिष्ठाज्ज्योतिः का दूसरा भेद, 14. पुरस्ताज्ज्योतिः का एक और भेद, 15. मध्येज्ज्योतिः का तीसरा भेद 16. उपरिष्ठाज्ज्योतिः का तीसरा भेद, 17. महाबृहती या पंचपदा त्रिष्टुप् 18. यवमध्या, 19. पङ्क्त्युत्तुरा या विराट्पूर्वा, 20. द्विपदा त्रिष्टुप्, 21. एकपदा।

7. **जगती छन्द**— जगती छन्द के प्रत्येक पाद में 12-12 अक्षर होते हैं अर्थात् कुल मिलाकर 48 अक्षर होते हैं। जैसे कि अन्य छन्दों में हम लोगो ने देखा कि पादों में अक्षर संख्या के कम या अधिक होने से उसका स्वरूप बदल जाता है। इस आधार पर जगती के भी अनेक भेद होते हैं। जैसे कि— 1. जगती, 2. उपजगती, 3. पुरस्ताज्ज्योतिः, 4. मध्येज्ज्योतिः, 5. उपरिष्ठाज्ज्योतिः, 6. महाबृहती या

पंचपदाजगती, 7. पुरस्ताज्ज्योतिः काएक और भेद, 8. मध्येज्ज्योतिः का दूसरा भेद, 9. उपरिष्ठाज्ज्योतिः का दूसरा भेद, 10. षट्पदा महापंक्ति, 11. महापंक्ति का दूसरा भेद, 12. विष्टारपंक्ति जगती अथवा प्रवृद्धपदा, 13. द्विपदा, 14. एकपदा, 15. ज्योतिष्मती।

कुछ और छन्दों के वर्णन हमें वेङ्कटमाधव की छन्दोऽनुक्रमणी और षड्गुरुशिष्य की ऋक्सर्वानुक्रमणी की वेदार्थदीपिका नाम की टीका में प्राप्त होते हैं। यद्यपि इनका आधार महर्षि शौनक का पादविधान है। यहां जिन-जिन छन्दों का उल्लेख मिलता है, उनके नाम हैं- अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति।

इसके अतिरिक्त महर्षि पतंजलि के निदानसूत्र नामक ग्रन्थ में कुछ और छन्दों के विषय में सूचना प्राप्त होती है यद्यपि इन छन्दों का प्रयोग ऋग्वेद के मन्त्रों में नहीं प्राप्त होता है लेकिन यजुर्वेद में इनके उदाहरण देखे जा सकते हैं। ये छन्द हैं- कृति, इसमें 80 अक्षर होते हैं। प्रकृति- इसमें 84 अक्षर होते हैं। आकृति- इसमें 88 अक्षर होते हैं। विकृति- इसमें 92 अक्षर होते हैं। संकृति- इसमें 96 अक्षर होते हैं। अभिकृति- इसमें 100 अक्षर होते हैं। उत्कृति- इसमें 104 अक्षर होते हैं। इनके भी अक्षर संख्या के बढ़ने आदि से अनेक भेद हैं।

छन्दशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। छन्दों के समुदाय भी बनते हैं। इसके लिये प्रगाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है। प्रगाथ के भी अनेक प्रकार होते हैं। वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में छन्दों के गोत्र, देवता और वर्ण का भी उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषरूप से ऋक्प्रातिशाख्य और शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के साथ-साथ दैवत ब्राह्मण ओर पिंगलसूत्र में इस विषय में विस्तार के साथ सूचना मिलती है। गायत्री का आग्निवेश्य, उष्णिक का काश्यप, अनुष्टुप् का गौतम, बृहती का आङ्गिरस, पंक्ति का भार्गव, त्रिष्टुप् का कौशिक और जगती का वशिष्ठ गोत्र है।

इसी तरह गायत्री का अग्नि, उष्णिक का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पंक्ति का मित्रावरुण, त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती का विश्वेदेवों के साथ सम्बन्ध है। इस विषय में कुछ अलग-अलग मत भी हैं। साररूप में हम यह कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य में मुख्यरूप से सात छन्द हैं यद्यपि इनके कई भेद हैं। उन्हीं के अन्दर सम्पूर्ण मन्त्र राशि आच्छादित है।

3.6 कल्प वेदांग का संक्षिप्त परिचय एवं इसके प्रणयन का उद्देश्य

कल्प वेदांग कल्प सूत्र के रूप में भी जाना जाता है। कल्पसूत्र कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी रचना सूत्रों के रूप में की गई है। सूत्र रूप में प्रस्तुत करने का प्रमुख उद्देश्य यह था कि इन्हें कंठस्थ करने में सरलता हो और प्रयोग में इनका स्मरण सरलता से हो सके इसलिये कल्प के सभी अंग सूत्र रूप में ही रखे गये हैं।

यदि हम कल्प शब्द के निर्वचन पर ध्यान दें तो हमें यह पता लगता है कि कल्प शब्द क्लृप् धातु से निष्पन्न हुआ है। क्लृप् धातु का अर्थ होता है- विधि। इन सूत्रों के द्वारा यज्ञ के विधि विधानों के साथ-साथ आचार एवं व्यवहार से सम्बन्धित नियमों को स्पष्ट किया गया है। इस रूप में इनका नामकरण कल्पसूत्र किया गया है। वैसे कल्प शब्द अन्य अनेक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे- ब्रह्मा के एक दिन को भी कल्प कहते हैं। कामनाओं की पूर्ति करने वाला -कल्पवृक्ष।

यह शब्द प्रलय शब्द का पर्याय भी है अर्थात् सृष्टि एवं संहार चक्र। कल्प शब्द का व्यवहार एक और विशिष्ट अर्थ में होता है, वह हैं विविध प्रकार के याग आदि के साथ-साथ सामाजिक संस्कारों को प्रतिपादित करने वाले निर्देशक ग्रन्थ। यहां पर कल्प शब्द का यही अर्थ अभीष्ट है। वेद के प्रतिष्ठित भाष्यकार सायणाचार्य ने यही अपने भाष्य में कहा है—

कल्पसूत्राणि प्रयोगप्रतिपादकानि । कल्पग्रहणेन सूत्राण्येव गृह्यन्त इति ।

जैसा कि छन्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि छन्द वेदपुरुष के पैर हैं, उसी तरह कल्प वेद पुरुष के दोनों हाथ हैं। यह कहना सर्वथा उचित ही है क्योंकि सभी क्रियाओं का सम्पादन हाथों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। लोक में दो प्रकार के कर्म प्रचलित हैं। प्रथमतः वैदिक परम्परा जिसमें प्रवेश अग्निहोत्र धारण करने के पश्चात् होता है और दूसरी है स्मार्त परम्परा। स्मार्त परम्परा का प्रवेश लोक में प्रचलित सभी प्रकार के यागादि, व्रत एवं संस्कार आदि के साथ आश्रम व्यवस्था के नियमन में भी है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर हमारे आचार्यों ने कल्प का विभाजन निम्न लिखित रूपों में किया है—

1. श्रौत सूत्र
2. शुल्ब सूत्र
3. धर्म सूत्र
4. गृह्यसूत्र, पितृमेध सूत्र और प्रवर

3.6.1 कल्प वेदांग के अन्तर्गत श्रौत सूत्र

जैसा कि कहा गया है कि श्रौत एवं स्मार्त के रूप में दो प्रकार के कर्म विहित हैं। वैदिक परम्परा में प्रचलित विभिन्न प्रकार के यज्ञों को पूर्ण रूप से संचालित करने का जो विधि-शास्त्र है, वह है श्रौत सूत्र। श्रौत सूत्र उन्हीं विधियों का प्रतिपादन करते हैं जिनका कि वेद में उपदेश किया गया है। वस्तुतः श्रौत सूत्र अपनी-अपनी शाखा परम्परा का अनुवर्तन करते हैं अर्थात् वेद की शाखा विशेष में जिस प्रकार का निर्देश है उसी के सम्पादन हेतु सूत्र रूप में नियमों को ये श्रौत सूत्र प्रस्तुत करते हैं। यह मूल सिद्धान्त है। यज्ञ के सम्पादन में अथवा श्रौत कर्म के अनुष्ठान में विशेष रूप से पांच अग्नियों की स्थापना होती है जो इस प्रकार हैं—

1. गार्हपत्य अग्नि
2. आहवनीय अग्नि
3. दक्षिणाग्नि या अन्वाहार्यपचन
4. सभ्य और आवसथ्य अग्नि

इन अग्नियों में यज्ञ के ऋत्विक् गण किस प्रकार से किस यज्ञ को पूर्ण करेंगे, सभी क्रियाओं का क्रम क्या होगा तथा अग्निहोत्र धारण करने का स्वरूप क्या होगा, इन सभी विषयों पर सूत्र रूप में, श्रौत सूत्र, विधि का निर्देश करते हैं। इस तरह से यज्ञ संस्था को अनुशासनबद्ध करने के लिये कल्प वेदांग के अन्तर्गत श्रौतसूत्रों का प्रणयन हुआ। इनके रचना काल के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनकी रचना ईसा के आठवीं शताब्दी पूर्व तक हो चुकी थी।

3.6.2 कल्प वेदांग के अन्तर्गत शुल्ब सूत्र

शुल्ब का अर्थ होता है धागा या रस्सी। जिस कार्य में धागा की सहायता से कार्य सम्पन्न हो, उस विधान शास्त्र का नाम है शुल्ब सूत्र। इसकी सहायता से विभिन्न प्रकार की यज्ञ वेदियों के निर्माण के साथ-साथ यज्ञ मण्डप का निर्माण किया जाता है। अनेक प्रकार की चित्तियों के निर्माण का स्वरूप भी शुल्बसूत्रों के माध्यम से ही पूर्ण होता है। यद्यपि शुल्बसूत्रों का समावेश श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत ही है क्योंकि प्रायः श्रौतसूत्रों का अन्तिम भाग शुल्बसूत्र के रूप में निबद्ध किया गया है लेकिन इनके महत्त्व को ध्यान में रखकर इनका वर्णन स्वतन्त्र रूप में किया जाने लगा।

3.6.3 कल्प वेदांग के अन्तर्गत गृह्य सूत्र

गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध स्मार्त कर्मों से हैं विशेष रूप से ऐसे कर्म जो विभिन्न प्रकार के संस्कारों से सम्बन्धित हैं। गृह्यसूत्र भी वेद की संहिताओं की अपनी-अपनी शाखा विशेष से सम्बन्धित हैं।

3.6.4 कल्प वेदांग के अन्तर्गत धर्म सूत्र

धर्मसूत्रों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार एवं सभी प्रकार के विधि विधानों से है। अपने यहां भारतीय विद्या में कुल अठारह विद्यास्थान हैं जिनमें 14 विद्यायें धर्मस्थान हैं और शेष चार कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, नीतिवाक्यामृत एवं शुक्रनीतिसार विद्या स्थान सर्वसामान्य के लिये हैं अर्थात् सबके लिये हैं। विद्यास्थान चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के बाहर हैं लेकिन धर्मस्थान का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास के लिये है अर्थात् जो विषय सामाजिक नहीं है, उसका सम्बन्ध धर्मस्थान से नहीं है। समाज के तीन तत्त्व हैं— आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। समाज आचार से नियन्त्रित होता है। आचार का संस्कार के साथ सम्बन्ध है, इसलिये संस्कार समाज का विषय है। कानून का सम्बन्ध व्यवहार से है। यदि ब्रह्माण्ड के साथ रहना है तो ईश्वर के नियम को मानना पड़ेगा। धर्मविज्ञान या विधिविज्ञान का मूल वेद है। वेद के द्रष्टा ही धर्मशास्त्र के स्रष्टा हैं। इसी से सत्य का विश्लेषण होता है। इन सबका प्रतिपादक शास्त्र हमारे धर्मसूत्र हैं जो वेद की शाखाओं के क्रम में हमें प्राप्त हुये हैं।

ऋग्वेद में उल्लेख है कि (ऋग्वेद 10:78)— कुरु प्रदेश में देवापि और शान्तनु नामक दो भ्राता थे। देवापि ज्येष्ठ था फिर भी शान्तनु ने राज्य ग्रहण कर लिया। इसके बाद 12 वर्षों तक अवर्षण रहा। तब पुरोहितों ने कहा, बड़े भाई के होते हुये शान्तनु ने राज्य पर अधिकार जमाया इसलिये यह वर्षा संकट उपस्थित हुआ है। शान्तनु बड़े भाई को राज्य देने के लिये तैयार था किन्तु देवापि ने मना कर दिया और राज्य के कल्याण के लिये पुरोहित बना और यज्ञ किया।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि वेद में प्राप्त आख्यानों में धर्म और नीति के तत्त्व पूरी तरह से दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से शनैः शनैः ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में ऋत और धर्म के नियामक तत्त्वों का विकास होता चला गया और कालान्तर में एक स्वतंत्र संस्था के रूप में विकसित हुआ। जिसका निदर्शन हम क्रमशः धर्मसूत्रों में देखते हैं।

3.6.5 कल्प वेदांग के अन्तर्गत पितृमेधसूत्र

पितृमेध के अन्तर्गत प्रायः श्रौतसूत्रों में ही उस विधि का विवेचन किया गया है, जिसमें पुत्र अथवा सगोत्री, पिता के मृत्यु हो जाने पर करता है। 8यह विधि आहिताग्नि एवं

अनाहिताग्नि के लिये अलग-अलग है। यह कल्प का अंग इसलिये है कि इसमें तीन या पांच अग्नियों के प्रयोग तथा विसर्जन का विधान है। इसके विशेष विवरण के लिये आप लोग श्रौत सूत्रों के पितृमेघ प्रकरण का अध्ययन कर सकते हैं। इसका भी विवरण वेद की शाखा के अनुसार ही श्रौतसूत्रों में प्राप्त होता है।

3.6.6 कल्प वेदांग के अन्तर्गत प्रवर सूत्र

प्रवर का अर्थ ऋषि परम्परा समझना चाहिये। प्रायः सभी प्रधान यज्ञों में तथा विवाह आदि संस्कारों में गोत्र तथा प्रवर के उच्चारण करने की परम्परा भी श्रौतसूत्रों का अंग है। इसके विशेष अध्ययन के लिये आपको पुरुषोत्तमदेव की गोत्रप्रवरमंजरी जैसे ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

3.7 वैदिक शाखाओं के अनुसार श्रौत सूत्रों का विवेचन

3.7.1 ऋग्वेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र

यह सर्वविदित है कि वेद की चार संहिता ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। सभी संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् हैं। इसके साथ ही साथ प्रत्येक संहिता के श्रौतसूत्र, शुल्बसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र भी थे लेकिन कालक्रम से न तो सभी संहितायें प्राप्त होती हैं और न ही सभी संहिताओं के सूत्र ग्रन्थ। श्रौत सूत्रों का सम्बन्ध अपनी शाखा विशेष से है। शाखा का तात्पर्य यहाँ यह है कि—प्रत्येक संहिता को गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा उपदेश के पश्चात् शिष्य उसे कण्ठस्थ कर लेता था। पुनः उसके माध्यम से यह ज्ञान दूसरे शिष्यों को प्राप्त होता हुआ जो आज हम सब के सामने प्रत्यक्ष है। कण्ठस्थ या श्रुति परम्परा से सुरक्षित यह ज्ञान गुरु परम्परा से प्रवर्तित होता हुआ, शाखा के रूप में जाना गया। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व ऋग्वेद की इक्कीस संहितायें थीं लेकिन इस समय केवल तीन संहितायें ही उपलब्ध हैं— शाकल संहिता, आश्वलायन संहिता एवं कौषीतकि संहिता या शांखायनी संहिता। ब्राह्मण के रूप में केवल ऐतरेय एवं कौषीतकि ब्राह्मण ही प्राप्त है। इस रूप में जो श्रौत सूत्र उपलब्ध हैं वे उस शाखा के साथ-साथ अप्राप्य शाखा के प्रयोग पद्धति का भी पूर्णरूप से परिचय देते हैं। ऋग्वेद के इस समय दो श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं— आश्वलायन श्रौत सूत्र एवं शांखायन श्रौत सूत्र।

3.7.1.1 ऋग्वेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य

आश्वलायन श्रौत सूत्र मुख्य रूप से दर्शपूर्णमास से लेकर अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयाग, अन्वारम्भणीय इष्टि, आग्रायण इष्टि, काम्य इष्टियां, चातुमास्य इष्टि के साथ-साथ निरूढ पशु, सौत्रामणी, प्रायश्चित्त, ज्योतिष्टोम, एकाह, अहीन, गवामयन तथा सत्र यागों की विधि विधानों का वर्णन करता है। इस श्रौत सूत्र में उपर्युक्त यज्ञों में होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत नाम के ऋत्विजों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद के ऋत्विक् होता के साथ उसके सहायकों का मुख्य कर्तव्य है ऋग्वेद के मन्त्रों, निविदों तथा प्रैषों का पाठ करना। इस श्रौत सूत्र में अश्वमेध के साथ-साथ गवामयन आदि दीर्घकालिक सत्रों का भी विवेचन है। शांखायन श्रौत सूत्र में भी उपर्युक्त विषयों के साथ-साथ वाजपेय तथा शुनःशेष आख्यान को समाहित किया गया है। इस श्रौत सूत्र में सारस्वत सत्र एवं दार्षद्वत सत्र का भी विवरण है जो सास्वती तथा पृषद्वती नदियों के तट पर किया जाता था और अवभृथ स्नान यमुना में करने का विधान है।

3.7.2 यजुर्वेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र

यजुर्वेद का विस्तार वर्तमान में कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के रूप में प्राप्त होता है। चरण व्यूह कृष्ण यजुर्वेद की शाखा परम्परा में 86 शाखाओं तथा शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयि शाखा) की पन्द्रह शाखायें स्वीकार करता हैं अर्थात् यजुर्वेद की कुल 101 शाखाओं का परिचय मिलता है। लेकिन वर्तमान में इन दोनों में केवल छःशाखायें वर्तमान में उपलब्ध है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखा परम्परा के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायिणी संहिता, काठक संहिताएवं कपिष्ठल संहिता तथा शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनएवं काण्व संहिता की पाठ परम्परा प्रचलित है।

जहां तक इन शाखाओं के श्रौत सूत्रों का प्रश्न है, उनमें से कृष्ण यजुर्वेद की शाखा परम्परा के इस समय आठ श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं। इनमें तैत्तिरीय शाखा से जो सम्बन्धित हैं, उनके नाम हैं— बौधायन श्रौत-सूत्र, भारद्वाज श्रौत-सूत्र, आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र, हिरण्यकेशी श्रौत-सूत्र, या सत्याषाढ श्रौत-सूत्र, वैखानस श्रौत-सूत्रएवं वाधूल श्रौत-सूत्र । इनमें से भारद्वाज श्रौत-सूत्र, आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र तथा हिरण्यकेशी श्रौत-सूत्र विषय प्रवर्तन तथा प्रवचन की दृष्टि से एक दूसरे के समान हैं। इनमें यज्ञीय प्रक्रिया का प्रवर्तन भी एक दूसरे के समान है। कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायिणी शाखा से सम्बन्धित दो श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं। इनके नाम हैं— मानव श्रौत सूत्र तथा वाराह श्रौत सूत्र। काठक शाखा के श्रौत सूत्र का भी कुछ अंश प्राप्त होता है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनएवं काण्व संहिता दोनों के लिये कात्यायन श्रौत सूत्र प्रचलित है।

3.7.2.1 यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य

यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों में बौधायन श्रौत सूत्र सबसे प्रधान तथा प्राचीन है। इसमें कुल तीस प्रश्न या अध्याय हैं जिसमें एक से लेकर उन्तीस प्रश्न श्रौत सूत्र से सम्बन्धित हैं जबकि उन्तीसवां शुल्ब सूत्रएवं प्रवर सूत्र है। इस श्रौत सूत्र में भी आश्वलायन श्रौत सूत्र के समान ही विवेचन है लेकिन इसके 16वें प्रश्न से द्वादशाह, अतिरात्र, एकाह, काठक चयन, द्वैध, कर्मान्तएवं प्रायश्चित्त प्रकरण संगृहीत है। बौधायन श्रौत सूत्र में एक बात यह विशेष है कि यह गोपितृयाग का वर्णन करता है।

मानव श्रौत सूत्र, वाधूल श्रौत सूत्र, भारद्वाज श्रौत सूत्र, सत्याषाढ श्रौत सूत्र, वैखानस श्रौत सूत्रएवं वाराह श्रौत सूत्र में भी यज्ञीय प्रक्रियाओं का ही वर्णन किया गया है। यह बात अवश्य है कि शाखा भेद से क्रियाओं में थोड़ा बहुत अन्तर है। जैसे कि— किसी ऋत्विक् द्वारा मन्त्र का उच्चारण धीरे-धीरे से करना है या जोर से करना है। प्रत्येक श्रौतसूत्र कुछ न कुछ विवरण के लिये अपना विशेष स्थान रखते हैं, जैसे कि— वैखानस श्रौत सूत्र अग्निमन्थन तथा अग्नि कुण्डों का वर्णन यथार्थरूप से करता है। यज्ञपात्रों का भी विस्तार से वर्णन करता है।

शुक्ल यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों में, कात्यायन श्रौत सूत्र, शतपथ ब्राह्मण तथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण को आधार मानकर यज्ञीय विधि विधानों का वर्णन करता है। इसमें विशेष रूप से चार महासत्रों का विवरण उपलब्ध होता है, ये हैं— प्राजापत्य, शाक्त्यानामयनम्, साध्यानामयनम् तथा विश्वसृजामयनम्। ये सत्र क्रमशः 12 वर्ष, 36 सम्वत्सर, सौ वर्ष तथा एक हजार वर्ष में पूर्ण होते हैं।

3.7.3 सामवेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र

सामवेद की शाखा परम्परा में जैमिनीय, राणायनीय एवं कौथुम शाखा का ही वर्तमान में प्रचलन है। यद्यपि एक समय में सामवेद की एक हजार शाखायें प्रचलित थीं। यही कारण है कि सामवेद के श्रौत सूत्र भी सबसे अधिक उपलब्ध थे। वर्तमान में जो श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं, उनके नाम हैं— आर्षेयकल्प, लाट्यायन श्रौत सूत्र, द्राह्यायण श्रौत सूत्र एवं जैमिनीय श्रौत सूत्र। लाट्यायन श्रौत सूत्र का सम्बन्ध कौथुम शाखा से है जबकि द्राह्यायण श्रौत सूत्र राणायनीय शाखा से सम्बन्धित है। जैमिनीय श्रौत सूत्र का पता तो उसके नाम से चल जाता है कि इसका सम्बन्ध जैमिनीय शाखा से है। इनमें से सबसे प्राचीन आर्षेयकल्प को स्वीकार किया जाता है। इसके द्वितीय भाग को क्षुद्र कल्पसूत्र के रूप में कहा गया है। इसके साथ ही निदान सूत्र एवं उपनिदान सूत्र भी सामवेदीय श्रौतसूत्र के अन्तर्गत कहे गये हैं।

3.7.3.1 सामवेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य

सामवेद से सम्बन्धित श्रौत सूत्रों में यदि आर्षेयकल्प को समझा लिया जाय तो अन्य श्रौत सूत्रों के विषय में सहज ही अनुमान हो जायेगा। मशक गार्ग्य द्वारा प्रणीत यह श्रौत सूत्र साठएकाहों, सैतालिस अहीन, पचास के लगभग सत्रों तथा अठारह अयनों से सम्बन्धित सामों, स्तोमों तथा क्लृप्तियों का वर्णन प्रस्तुत करता है। इस श्रौत सूत्र में यज्ञों में विनियोग किये जाने वाले गानों अर्थात् सामन् को सामवेद के ऊह तथा रहस्य गान से लिया गया है। इसके साथ ही ग्रामगेयगान और अरण्यगेयगानों को भी सम्मिलित किया गया है।

इसी प्रकार क्षुद्रकल्प सूत्र में भी पचासीएकाहों से सम्बन्धित सामों का विवेचन है। इस कल्प सूत्र की विशेषता यह है कि यह उन काम्य तथा प्रायश्चित्त कर्मों के विषय में बताता है जिनके विषय में आर्षेय कल्प मौन है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र का कलेवर सूत्र, कल्प एवं पर्याध्याय के रूप में विभाजित है। सर्वप्रथम ज्योतिष्टोम, अग्न्याधान तथा अग्निचयन से सम्बद्ध सामों को बताया गया है। कल्प का विषय आर्षेय कल्प के समान है। इसमें सामगान के विविध नियम के साथ-साथ सामों के देवता, छन्द, सामों के अन्त, निधनों के ऋषि तथा रथन्तरजामि का विवेचन किया गया है। यज्ञीय विधि विधान की दृष्टि से यह प्रमुख यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों के समान है।

सामवेदीय श्रौत सूत्रों में लाट्यायन श्रौत सूत्र का वैशिष्ट्य यह है कि— यह श्रौत सूत्र उद्गाता तथा प्रस्तोता के प्रातः सवन के कर्तव्य के साथ-साथ सोमयाग तथा इसकी संस्थाओं से सम्बन्धित विभिन्न दीक्षा का विवेचन करता है। इसके चतुर्थ प्रपाठक में वीणा के विविध प्रकार के साथ-साथ वीणा निर्माण की विधि का भी विवेचन किया गया है। इसमें कुल दश प्रपाठक हैं।

द्राह्यायण श्रौत सूत्र का प्रतिपाद्य विषय भी कुछ परिवर्तनों के साथ सामवेद के दूसरे श्रौत सूत्रों की तरह ही है जबकि निदानसूत्र छन्दों आदि की परीक्षा करके उन्हें प्रस्तुत करता है।

3.7.4 अथर्ववेद की शाखाओं के श्रौत सूत्र

अथर्ववेद को ब्रह्म वेद, भृगु वेद, यातु वेद, भैषज्य वेद, क्षत्र वेद, ग्रामयाजि वेद आदि नामों से अभिहित किया जाता है। चरण व्यूह इसकी नौ शाखा परम्परा का वर्णन

करता है – पैप्पला, शौनका, दान्ता, प्रदान्ता, औता, जाबाला, ब्राह्मपलाश, कुन्खीवेददर्शीएवं चारण विद्या। लेकिन इनमें से केवल दो की ही शाखा परम्परा आज प्रचलित है— पैप्पलादएवं शौनक लेकिन इनमें से केवल एक ही श्रौत सूत्र प्राप्त होता है वह है— वैतान श्रौत सूत्र। यह श्रौत सूत्र ब्रह्मा नामक ऋत्विक् के सभी कर्तव्यों का विवरण प्रथम अध्याय में ही कर देता है। इस श्रौत सूत्र में आठ अध्यायएवं 43 कण्डिकायें हैं जिनमें अथर्ववेदीय परम्परा के सभी यज्ञ आदि का विवेचन किया गया है। वैतान श्रौत सूत्र पर सोमादित्य का भाष्य प्राप्त होता है।

3.7.4.1 अथर्ववेदीय श्रौत सूत्रों का प्रतिपाद्य

अथर्ववेद के श्रौत सूत्रों का परिचय हमें वैतान सूत्र या वितान सूत्र के रूप में प्राप्त होता है। इसे अथर्वसूत्र आथर्वण के रूप में भी सम्बोधित करते हैं। इसकी रचना का आधार इसका गृह्यसूत्र अर्थात् कौशिकसूत्र है। इसी कारण इसे कौशिकीयसूत्र भी कहा जाता है। इसके आठ अध्यायों में वह सभी विषय समाहित हैं जिनका वर्णन अन्य श्रौतसूत्रों में उनकी अपनी शाखा के अनुसार प्राप्त होता है। इसकी अपनी विशेषता यह है कि कौशिकसूत्र में प्रतिपादित गणों का यहां वर्णन किया गया है। जैसे— चातन गण, वास्तोष्यपत्यगण, अपां सूक्तानि, सम्पात् सूक्तानि, सहस्रबाहुसूक्त आदि।

3.8 वैदिक शाखाओं के अनुसार गृह्य सूत्रों का विवेचन

जैसा कि इनके नाम से ही प्रतीत होता है कि गृह्य सूत्रों का सम्बन्ध सामाजिक संस्कारों से हैं। इनके अन्तर्गत सभी प्रमुख संस्कारों के साथ-साथ वास्तु प्रकरण का भी विधान किया गया है। गृहस्थ के लिये आवश्यक पांच विशेष महायज्ञ का वर्णन भी इन्हीं के अन्तर्गत है। ये पांच महायज्ञ हैं— ऋषि तर्पण, वेदाध्ययन, उपाकर्म, समावर्तन तथा राजसन्नाहन। सम्पूर्ण श्राद्ध प्रक्रिया भी गृह्य सूत्र का ही विषय है लेकिन कमएवं विस्तार की दृष्टि से सभी श्रौत सूत्रों में विभिन्नता है। यहां पर शाखा परम्परा की दृष्टि से उनका वर्णन किया जा रहा है—

3.8.1 ऋग्वेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र

ऋग्वेद के इस समय केवल तीन ही श्रौत सूत्र प्राप्त होते हैं— आश्वलायन श्रौत सूत्र, शांखायन श्रौत सूत्रएवं कौषीतकि श्रौत सूत्र। इसके अतिरिक्त अभी भी इस शाखा के कुछ गृह्य सूत्र अप्रकाशित हैं। इनका उल्लेख विभिन्न टीकाकारों के द्वारा किया गया है। शांखायन श्रौत सूत्रएवं कौषीतकि श्रौत सूत्र में आपस में बहुत समानता है। प्रथम चार अध्याय तो एक जैसे ही हैं केवल कौषीतकि में एक अध्याय अलग से है।

3.8.2 यजुर्वेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र

जहां तक यजुर्वेद की शाखाओं के गृह्य सूत्रों का प्रश्न है, उनमें से कृष्ण यजुर्वेद की शाखा परम्परा के सबसे अधिक गृह्य सूत्र प्राप्त होते हैं। इनमें तैत्तिरीय शाखा से जो सबन्धित हैं, उनके नाम हैं— भारद्वाज गृह्य-सूत्र, वैखानस गृह्य-सूत्र, एवं आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र। हिरण्यकेशी गृह्य-सूत्र, या सत्याषाढ गृह्य-सूत्र का सम्बन्ध खाण्डिकीय शाखा से है। मानवगृह्य-सूत्र, मैत्रायिणी शाखा का गृह्य-सूत्र है। काठक गृह्य-सूत्र काठक शाखा का तथा वाराह गृह्य-सूत्र, का सम्बन्ध वाराह शाखा से है जो मूलतः मैत्रायिणी शाखा की ही उपशाखा है। आग्निवेश्य गृह्य-सूत्र, वाधूल शाखा का गृह्य-सूत्र माना जाता है। कठ कपिष्ठल गृह्य-सूत्र अभी भी अप्रकाशित है।

शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनएवं काण्व दोनों शाखाओं के लिये पारस्कर गृह्य-सूत्र ही मान्य है। यह गृह्य-सूत्र भी अन्य गृह्य-सूत्रों की तरह अत्यन्त विस्तार के साथ सभी सामाजिक संस्कारों का वर्णन करता है जिसमें प्रमुख हैं— विवाह आदि संस्कार, प्रतिदिन किये जाने वाले होम तथा अन्न बलि, मासिक तथा वार्षिक कर्म, प्रायश्चित्त कर्म, वापी, कूप, तडागादि की स्थापना विधि, श्राद्ध प्रकरण आदि। इस गृह्य-सूत्र पर अनेक आचार्यों की टीकायें प्राप्त होती हैं।

3.8.3 सामवेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र

यद्यपि जैमिनीय, राणायनीयएवं कौथुम शाखा की ही पाठ परम्परा वर्तमान में उपलब्ध हैं लेकिन गृह्य-सूत्रों के रूप में इस शाखा के गोभिल गृह्य-सूत्र, खादिर गृह्य-सूत्र, द्राह्यायण गृह्य-सूत्र, जैमिनीय गृह्य-सूत्रएवं कौथुम गृह्य-सूत्र प्राप्त होते हैं।

3.8.4 अथर्ववेद की शाखाओं के गृह्य सूत्र

अथर्ववेद की नौ शाखा परम्परा का उल्लेख किया गया है लेकिन जहां तक इसके गृह्य-सूत्रों के प्राप्त होने का विषय है, केवलएक गृह्य-सूत्र अर्थात् कौशिक गृह्य-सूत्र प्राप्त होता है। इस गृह्य-सूत्र के विषय में भी विद्वानों का यही मत है कि वस्तुतः यह श्रौत सूत्र ही है। इसका प्रतिपाद्य विषय दर्शपूर्णमास, राजा से सम्बन्धित कर्म जैसे राज्याभिषेक, रोग निवारक, संतानोपत्ति, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन तथा वशीकरण आदि से सम्बन्धित कर्म का क्रम प्रारम्भ में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनन्तर शान्ति कर्म, अभिचारक कर्म, मांगलिक कर्म, विवाह तथा अन्त्येष्टि आदि के विषय में भी कहा गया है। अन्तिम 13वें एवं 14वें अध्याय में अद्भुत कर्म, वेदारम्भ, इन्द्रमहोत्सवएवं अनध्याय का वर्णन किया गया है।

3.9 वैदिक शाखाओं के अनुसार धर्म सूत्रों का विवेचन

वेद की चारों संहिताओं के जैसे अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यकएवं उपनिषद् हैं वैसे ही धर्मसूत्र भी हैं। लेकिन कालक्रम से न तो सभी संहितायें प्राप्त होती हैं और न ही सभी संहिताओं के धर्मसूत्र। उपलब्ध धर्म सूत्रों का सम्बन्ध अपनी शाखा विशेष से है जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

3.9.1 ऋग्वेद की शाखाओं के धर्मसूत्र

धर्मसूत्रों में **गोभिल धर्मसूत्र**एवं **वासिष्ठ धर्मसूत्र** को ऋग्वेद से सम्बन्धित धर्मसूत्र माना गया है। तीस अध्यायों में विभाजित यह धर्मसूत्र स्नातक अर्थात् ब्रह्मचारी के कर्तव्यों के साथ-साथ उपनयनएवं पंचमहायज्ञ आदि का विवेचन करता है

3.9.2 यजुर्वेद की शाखाओं के धर्मसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद के सबसे अधिक धर्म सूत्र प्राप्त होते हैं। इनमें तैत्तिरीय शाखा से सबन्धित धर्म सूत्र बौधायन धर्मसूत्र, वैखानस धर्म-सूत्र, एवं आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र हैं। हिरण्यकेशी धर्म-सूत्र, का सम्बन्ध खाण्डिकीय शाखा से है। हारीत धर्म सूत्र भी प्राप्त होता है जिसका सम्बन्ध मैत्रायिणी शाखा के साथ कहा गया है।

3.9.3 सामवेद की शाखाओं के धर्म सूत्र

सामवेद के दो धर्मसूत्र प्राप्त होते हैं— गौतम धर्म सूत्रएवं विष्णु धर्म सूत्र।

3.9.4 अथर्ववेद की शाखाओं के धर्म सूत्र

अथर्ववेद का कोई भी धर्मसूत्र अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। ऐसी स्थिति में दूसरी शाखा में प्रवर्तित सूत्र ही सामाजिक व्यवहार आदि में प्रयुक्त होते हैं।

3.10 सारांश

वेद के अर्थ को समझने के लिये छन्द का ज्ञान आवश्यक है। जहां तक छन्द के प्राचीनता का प्रश्न है, छन्द उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मन्त्रमयी वाणी। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में छन्दों का आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक तीनों रूपों में विवेचन किया गया है। वैदिक छन्दों का आविर्भाव एवं इसके स्वरूप का प्रकटीकरण ऋषियों के द्वारा हम लोगों के लिये बहुत बड़ी देन है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह व्यवस्था एक निश्चित नियम के अन्तर्गत कार्य करती है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का स्वरूप लौकिक छन्दों से सर्वथा भिन्न है। लौकिक छन्दों में लघु, गुरु मात्राओं का आश्रय लिया जाता है जबकि वैदिक छन्दों में केवल अक्षरों की ही गणना की जाती है। इसलिये वैदिक छन्द अक्षर छन्द ही हैं। महर्षि शौनक के ऋक्प्रतिशाख्य में 188 छन्दों का वर्णन प्राप्त होता है। महर्षि गार्ग्य के अनुसार सात मुख्य छन्द और चौदह अतिछन्द मिलकर इक्कीस छन्द हैं। इनके नाम हैं— 1. गायत्री 2. उष्णिक् 3. अनुष्टुप् 4. बृहती 5. पंक्ति 6. त्रिष्टुप् और 7. जगती। अतिछन्द के नाम हैं— 1. अतिजगती 2. शक्वरी 3. अतिशक्वरी 4. अष्टि 5. अत्यष्टि 6. धृति 7. अतिधृति 8. कृति 9. प्रकृति 10. आकृति 11. विकृति 12. संकृति 13. अभिकृति 14. उत्कृति।

कल्प वेद पुरुष के दोनों हाथ हैं। सभी क्रियाओं का सम्पादन हाथों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। लोक में दो प्रकार के कर्म प्रचलित हैं। प्रथमतः वैदिक परम्परा जिसमें प्रवेश अग्निहोत्र धारण करने के पश्चात् होता है और दूसरी है स्मार्त परम्परा। स्मार्त परम्परा का प्रवेश लोक में प्रचलित सभी प्रकार के यागादि, व्रत एवं संस्कार आदि के साथ आश्रम व्यवस्था के नियमन में भी है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर हमारे आचार्यों ने कल्प का विभाजन श्रौत सूत्र, शुल्ब सूत्र, धर्म सूत्र, गृह्यसूत्र, पितृमेध सूत्र और प्रवर के रूपों में किया है।

विभिन्न प्रकार के यज्ञों को पूर्ण रूप से संचालित करने का जो विधि-शास्त्र है, वह है श्रौत सूत्र। श्रौत सूत्र उन्हीं विधियों का प्रतिपादन करते हैं जिनका कि वेद में उपदेश किया गया है। वस्तुतः श्रौत सूत्र अपनी-अपनी शाखा परम्परा का अनुवर्तन करते हैं अर्थात् वेद की शाखा विशेष में जिस प्रकार का निर्देश है उसी के सम्पादन हेतु सूत्र रूप में नियमों को ये श्रौत सूत्र प्रस्तुत करते हैं।

शुल्ब का अर्थ होता है धागा या रस्सी। जिस कार्य में धागा की सहायता से कार्य सम्पन्न हो, उस विधान शास्त्र का नाम है शुल्ब सूत्र। इसकी सहायता से विभिन्न प्रकार की यज्ञ वेदियों एवं चितियों के निर्माण के साथ-साथ यज्ञ मण्डप का निर्माण किया जाता है।

गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्रों का सम्बन्ध सामाजिक संस्कार, आचार एवं व्यवहार तथा सभी प्रकार के विधि विधानों से है। पितृमेध प्रकरण से मृत्यु उपरांत किये जाने वाले विशिष्ट कर्म का ज्ञान होता है। प्रवर के स्मरण से अपनी ऋषि परम्परा का स्मरण करते हैं। इस रूप में छन्द एवं कल्प वेदांग वस्तुतः भारतीय समाज एवं संस्कृति के निर्माता हैं।

3.11 शब्दावलियाँ

1. **निचृत्**— यदि किसी छन्द में एक अक्षर कम हो तो उसे **निचृत्** विशेषण से सम्बोधित करते हैं।
2. **भुरिक्**— यदि किसी छन्द में एक अक्षर अधिक हो तो उसे **भुरिक्** विशेषण से युक्त किया गया है। उदाहरण के लिये त्रिपदा गायत्री के अक्षरों की संख्या 24 है लेकिन 23 अक्षरों वाली गायत्री को **निचृद् गायत्री** और 25 अक्षरों वाली गायत्री को **भुरिगायत्री** कहा जाता है।
3. **विराद् गायत्री**— दो अक्षरों की हीनता वाली अर्थात् जिसमें दो अक्षर कम है, ऐसे गायत्री छन्द को **विराद् गायत्री** कहते हैं।
4. **स्वराद् गायत्री** — दो अक्षरों की अधिकता वाली गायत्री को **स्वराद् गायत्री** छन्द से अभिहित किया गया है।

3.12 बोध प्रश्न या अभ्यास प्रश्न

1. वेदांग को हम किस रूप में जानते हैं —
 - क) वेद को समझने के सहायक विज्ञान के रूप में
 - ख) उपवेद के रूप में
 - ग) यज्ञ के रूप में
 - घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. वेदांग के नामकरण का कारण है —
 - क) छन्द एवं ज्योतिष
 - ख) वेदांग के रूप में कहे गये वेद के छः अंग
 - ग) पराएवं अपरा विद्या का कथन
 - घ) वेद का स्वरूप निर्धारित करना।
3. छन्दस् वेदांग को किस अंग की उपमा दी गई है—
 - क) मुख
 - ख) नेत्र
 - ग) पाद
 - घ) श्रोत्र
4. छन्दस् वेदांग का विशेष महत्त्व है —
 - क) यज्ञ के संचालन में
 - ख) ऋत्विकों के चयन में
 - ग) यज्ञ करने के लिये समय के निर्धारण में
 - घ) छन्दों के माध्यम से मन्त्रों के परिमाण को जानने में
5. वैदिक छन्दों का विभाजन किस आधार पर किया गया है—
 - क) छन्दों के आधार पर

- ख) स्वर के आधार पर
ग) उदात्त- अनुदात्त के आधार पर
घ) स्वरित के आधार पर
6. वेद में आठ अक्षर वाले छन्द का क्या नाम है—
क) त्रिष्टुप्
ख) गायत्री
ग) अनुष्टुप्
घ) उपर्युक्त सभी गलत हैं
- 7- 44 अक्षर वाले छन्द का नाम है—
क) पंक्ति
ख) उष्णिक
ग) त्रिष्टुप्
घ) बृहती
8. इनमें से कौन सा ग्रन्थ छन्दशास्त्र से सम्बन्धित नहीं है
क) पिंगल का छन्दःसूत्र
ख) छन्दोऽनुशासन
ग) छन्दोमंजरी
घ) निरुक्त
- 9- कल्प की तुलना वेद पुरुष के किस अंग से की गई है—
क) दोनों हाथ
ख) दोनों नेत्र
ग) श्रोत्र
घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
10. निम्नलिखित में से किसका सम्बन्ध कल्प से नहीं है—
क) श्रौत-सूत्र
ख) ब्रह्मसूत्र
ग) धर्मसूत्र
घ) गृह्यसूत्र
- 11- निम्नलिखित में कौन सा श्रौतसूत्र ऋग्वेद से सम्बन्धित नहीं है—
क) आश्वलायन श्रौत-सूत्र
ख) शांखायन श्रौत-सूत्र
ग) बौधायन श्रौत-सूत्र
घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

- 12- निम्नलिखित में कौन सा श्रौतसूत्र कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित नहीं है—
 क) बौधायन श्रौत-सूत्र,
 ख) भारद्वाज श्रौत-सूत्र,
 ग) आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र,
 घ) कात्यायन श्रौत सूत्र
- 13- वैतान श्रौत-सूत्र में किस ऋत्विक् के कर्तव्यों का विवेचन है
 क) ब्रह्मा
 ख) अध्वर्यु
 ग) होता
 घ) उद्गाता
- 14- इनमें से कौन सा प्रकरण गृह्य-सूत्र से सम्बन्धित नहीं है —
 क) विवाह आदि संस्कार तथा प्रतिदिन किये जाने वाले होमएवं प्रायश्चित्त कर्म,
 ख) दर्शपूर्णमास इष्टि
 ग) मासिक तथा वार्षिक श्राद्ध प्रकरण
 घ) वापी, कूप, तडागादि की स्थापना विधि,
- 15- पितृमेघसूत्र प्रकरण का प्रारम्भ कब किया जाता है—
 क) दर्शपूर्णमास इष्टि प्रारम्भ करने के पूर्व
 ख) अग्निहोत्र ग्रहण करने के समय
 ग) पिता की मृत्यु के उपरान्त
 घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
- 16- निम्नलिखित में से प्रवर का अर्थ है—
 क) गुरु परम्परा
 ख) गुरु-शिष्य परम्परा
 ग) विवाह संस्कार का अनुष्ठान
 घ) ऋषि परम्परा

3.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

— 1.(क), 2. (ख), 3.(ग), 4..(घ), 5.(क), 6.(ख), 7.(ग), 8.(घ), 9.(क), 10. (ख), 11. (ग), 12.(घ), 13.(क), 14. (ख), 15.(ग), 16.(घ)

3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास प्रथम खण्ड, वेद, प्रधान सम्पादक-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, सम्पादक-प्रो० ब्रजबिहारी चौबे, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996
2. निरुक्तम्, महामहोपाध्याय श्री छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2016

3. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, तृतीय भाग ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ, लेखक-पं० भगवदत्त, 2016
4. वैदिक छन्दोमीमासा, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, हरियाणा, 1979
5. छन्दशास्त्र का उद्भवएवं विस्तार, प्रोफेसर श्रीकिशोर मिश्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणासी, 2006
6. शौनककृत ऋक्प्रातिशाख्य
7. छन्दःसूत्र, पिंगलप्रोक्त
8. ऋक्सर्वानुक्रमणी, कात्यायन प्रोक्त
9. ए प्रेक्टिकल वैदिक डिक्सनरी, सूर्यकान्त आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली-1981
10. वैदिक कोषः हंसराज एवं भगवदत्त, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2002
11. वेदांग, वैदिक वाङ्मय का बृहद् इतिहास, कुन्दनलाल शर्मा, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, पंजाब, 1983

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 4 ज्योतिषशास्त्र का प्रयोजन, प्रतिपाद्य तथा सम्बद्ध ग्रन्थ

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 ज्योतिषशास्त्र का परिचय एवं स्वरूप
 - 4.2.1 ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास
- 4.3 ज्योतिषशास्त्र का प्रतिपाद्य एवं मुख्य प्रयोजन
 - 4.3.1 ज्योतिषशास्त्र की साम्प्रतिक उपयोगिता
- 4.4 ज्योतिषशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ
 - 4.4.1 ज्योतिषशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थकार
- 4.5 सारांश
- 4.6 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री
- 4.7 बोधप्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर देने में सक्षम होंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के वास्तविक स्वरूप को बता सकेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों को बताने में निपुण होंगे।
- ज्योतिषशास्त्र के प्रयोजन को समझा सकेंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख आचार्यों के बारे में जान जाएंगे।
- ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों के बारे में बता पाएंगे।

4.1 प्रस्तावना

आप सभी ज्योतिष शास्त्र के सामान्य ज्ञान से परिचित होंगे तथा पूर्व में पठित विषय से भलीभाँति अवगत हो चुके होंगे ऐसा मेरा विश्वास है। प्रस्तुत इकाई का शीर्षक **ज्योतिषशास्त्र का प्रयोजन, प्रतिपाद्य तथा सम्बद्ध ग्रन्थ** है अतः इसके अन्तर्गत आप सभी ज्योतिषशास्त्र के सामान्य परिचय को प्राप्त करते हुए शीर्षक से सम्बद्ध विषयों का विस्तृत अध्ययन करेंगे। जैसा कि आप जानते हैं कि भारतीय ज्ञान परम्परा में वेद ही सभी ज्ञान विज्ञान के आदि स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित है। जिसके अर्थ ज्ञान में वेदाङ्गों की प्रमुख भूमिका होती है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र वेदाङ्गों के अन्तर्गत वेद पुरुष के नेत्र स्वरूप में स्वयं ब्रह्मा जी द्वारा प्रतिष्ठित है जिसका

मुख्य कार्य वेदों के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक यागादि कर्म हेतु शुभाशुभ काल का निदर्शन है। इसीलिए इसे कालविधान शास्त्र के रूप में भी जाना जाता है। अपनी उत्पत्ति काल से ही यह शास्त्र गणित एवं आधुनिक तथा प्राचीन विज्ञान के मूल को अपने अन्दर संरक्षित करता हुआ प्राणीमात्र के कल्याण हेतु प्रकृति मूलक विज्ञान के सम्पोषण में सतत प्रयत्नशील है। इसके अन्तर्गत हम काल एवं सृष्टि की विस्तृत अवधारणा के साथ-साथ गणित, खनिज, भूगर्भ, अन्तरिक्ष, मौमस, कृषि, वृष्टि, जीव, वनस्पति, मृदा विज्ञान के आधारभूत विषयों के साथ ही वास्तु, मुहूर्त तथा कर्मफल के वर्तमान जीवन में भाग्यरूपी परिणति को इसके सिद्धान्त-संहिता एवं होरा नामक स्कन्धों से विस्तार पूर्वक जान सकते हैं। इस ईकाई में इन्हीं विषयों का संक्षिप्त परिचय निहित है।

4.2 ज्योतिषशास्त्र का परिचय एवं स्वरूप

सामान्यपरिभाषा के अनुसार आकाश में विद्यमान ग्रहनक्षत्रादि पिण्डों की गति-स्थिति-परिणाम तथा प्रभावादि का निरूपण जिस शास्त्र में किया जाता है उसे ज्योतिषशास्त्र कहते हैं। अर्थात् जिस शास्त्र में ग्रह नक्षत्रादि के गति एवं स्थिति से सम्बन्धित सभी नियमों तथा उनको भौतिक पदार्थों में वैज्ञानिक रीति से प्रभावादि का निरूपण किया जाता है उसे ज्योतिषशास्त्र कहते हैं। इसीलिए आचार्यों ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि “सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रं ज्योतिषमिति” ज्योतिष शास्त्र का सम्बन्ध ब्रह्माण्डीय सकल चराचरों सहित मानव के अनेक जन्म-जन्मान्तरों से जुड़ा रहता है। इसीलिए जीवन के प्रत्येक अवस्था में यह ज्योतिष शास्त्र हमें किसी न किसी रूप में प्रभावित करता ही रहता है। इसका अपर नाम कालविधान शास्त्र भी है क्योंकि काल का ज्ञान ज्योतिषशास्त्र के द्वारा ही होता है और काल को छोड़कर कोई भी कार्य करना जगत में सम्भव नहीं है। भारतीय ज्ञान परम्परा की दार्शनिक अवधारणा में यह मानव जीवन काल तथा कर्म के अधीन होता है जिसका साक्षात्कार ज्योतिषशास्त्र के द्वारा मानव के जन्मान्तरमर्जित कर्मों की काल सापेक्ष परिणति एवं तज्जन्य शुभाशुभ फलों के ज्ञान द्वारा किया जाता है। इसीलिए ज्योतिष शास्त्र के प्रयोजन को बताते हुए आचार्य वराहमिर अपने लघुजातक नामक ग्रन्थ के आरम्भ में कहते हैं कि यदुपचितपूर्वजन्मनिशुभाशुभं तस्यकर्मणः पङ्क्तिव्यञ्जयतिशास्त्रमेतत् तमसिद्यव्याणि दीपइवायहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि ज्योतिष शब्द के उच्चारण में आपको कहीं ज्योतिष तो कहीं पर ज्यौतिषशब्द का प्रयोग प्राप्त होगा परन्तु व्याकरण के दृष्टि से ज्योतिष एवं ज्यौतिष दोनों ही शब्दों के प्रयोग उचित प्रतीत होते हैं तथापि सभी प्राचीन ग्रन्थों में ज्योतिष शब्द ही प्रयोग बहुशः प्राप्त होता है इसीलिए विद्वानों ने ज्योतिष शब्द को ही बहुशः व्यवहार में स्वीकार किया है। ज्योतिषशास्त्र का प्रणयन स्वयं ब्रह्मा जी ने वेद विहित कार्यों को सम्पादित करते हुए धर्म के अनुकूल व्यवहार करने के लिए किया है। वैसे तो वेदों में संसार के सभी विषय अपने मूल स्वरूप में सन्निहित हैं परन्तु वेदों का मुख्य कर्म (मुख्य प्रयोजन) यज्ञादि सम्पादन है और यज्ञादि के फल कालाधीन होते हैं अर्थात् कालविशेष में आयोजित याग ही सफलता को प्राप्त होते हैं अत एव प्रमाण पूर्वक परम्परा से ज्योतिष शास्त्र का वेदाङ्गत्वेन निरूपण प्राप्त होता है जैसा कि भास्कराचार्य जी कहते भी हैं-

वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ताः यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्॥

ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत मुख्यरूप से आकाशीयग्रह-नक्षत्रादि पिण्डों सहित सम्बन्धित अन्य घटकों का सम्यक् रूप से अध्ययन करते हुए इस भूषण पर उनके प्रभावों का विश्लेषण किया

जाता है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से भी हम देखते हैं तो यह समग्र विश्व एवं इनमें विद्यमान सकल चराचर, पञ्चमहाभूत एवं गुण त्रय आदि से ही सम्बन्धित हैं जो समान गुण धर्मिता के कारण परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं, इन्हीं “यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे” के सिद्धान्तानुसार इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान ग्रहादि पिण्डों के द्वारा मानव सहित समस्त चराचर भी प्रभावित होते रहते हैं जिसके ज्ञान की प्रक्रिया का विशद विवेचन इस ज्योतिष शास्त्र के अन्तर्गत निहित है। ज्योतिषशास्त्र का स्वरूप इतना बृहद् है कि यह अपने सिद्धान्त-संहिता तथा होरा सभी स्कन्धत्रय में विभक्त होकर अन्तरिक्ष से भूगर्भ तक मानव जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों को अपने अन्तर समाहित कर लेता है। यह ज्ञान-विज्ञान के समवेत स्वरूप में प्रतिष्ठित एक ऐसा शास्त्र है जो किसी को भी नियम विशेष पर चलने हेतु बाध्य नहीं करता अपितु अपना अनुसरण करने वाले व्यक्ति के जीवन को सरल एवं सुखमय बनाने हेतु शास्त्रीय व्यवस्था उपस्थित करता है।

ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख विभाग

ज्योतिष शास्त्र के अंतर्गतज्ञान ज्ञान विज्ञान से संबंधित अनेक विषयों का समाहार है। जिनका वैदिक काल तक बिना किसी भेद अथवा विभाजन के एकत्र ही निरूपण होता रहा है परन्तु कालान्तर में विषय विभाजन की दृष्टि से आचार्यों ने सिद्धान्त, संहिता एवं होरा रूपी मुख्य रूप से इसके तीन विभाग बताए हैं जो ज्योतिष शास्त्र के स्कन्ध त्रय के रूप में जाने जाते हैं - देवर्षि नारद ने भी कहा है कि-

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्। वेदस्य निर्मलं चक्षुज्योतिः शास्त्रमनुत्तमम्॥

आचार्य वराहमिहिर ने भी ज्योतिषशास्त्र के तीन स्कन्धों का वर्णन करते हुए बृहत्संहिता में लिखा है कि- ज्योतिषशास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितम्। आचार्य वराहमिहिर ने इसके तीनों स्कन्धों से संबंधित पृथक् पृथक् ग्रन्थों की रचना भी की है। जो तीनों ही स्कन्धों में ज्योतिष शास्त्र के अग्रणी ग्रंथ माने जाते हैं। आचार्य वराहमिहिर ने अपने बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में इन तीनों स्कन्धों के समवेत स्वरूप को ही त्रिस्कन्ध ज्योतिष के नाम से निरूपित किया है। कुछ आचार्यों के मत में उपर्युक्त तीन स्कन्धों के अतिरिक्त केरल एवं शकुन नामक दो और भी ज्योतिष शास्त्र के स्वतंत्र स्कन्ध हैं परंतु सूक्ष्म विवेचन से केरल एवं शकुन का भी संहिता स्कन्ध के अंतर्गत ही सन्निवेश हो जाता है, अन्यथा विषय की दृष्टि से विभाजन करने पर ज्योतिष शास्त्र के शताधिक भेद उत्पन्न हो जाएंगे।

सिद्धान्त-इसके सिद्धांत स्कन्ध के अंतर्गत काल की सबसे सूक्ष्मतम इकाई त्रुटि से आरंभ कर सबसे बड़ी इकाई कल्प तक की गणना तथा इन काल की इकाइयों के अंतर्गत आने वाले कलमानो के भेद, व्यक्त एवं अव्यक्त गणित सहित त्रिकोणमितीय गणित का विवेचन, आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्र आदि पिण्डों की गति स्थिति आदि का निरूपण तथा उनके वेध में प्रयुक्त होने वाले यंत्र आदि का विवेचन विस्तार पूर्वक प्राप्त होता है। इसका विस्तृत विवेचन आचार्य भास्कर ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ही किया है। सम्प्रति सिद्धान्त स्कन्ध के प्रसिद्ध ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि, सिद्धान्ततत्त्वविवेक, पञ्चसिद्धान्तिका, सिद्धान्तशेखर एवं आर्यभटीयम् इत्यादि हैं।

संहिता- “तत्कात्स्नयोपनयस्य नाममुनिभिः संकीर्त्यते संहिता”। संहिता स्कन्ध की इस परिभाषा के अनुसार ज्योतिषशास्त्र के जिस विभाग में स्कन्ध त्रय के अन्तर्गत वर्णित प्रायः

सभी विषयों का निरूपण किया जाता है उसे हम संहिता स्कंध कहते हैं सामान्यतया इस स्कंध के अंतर्गत आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्रादि पिंडों की गति स्थिति आदि के द्वारा इस भूपृष्ठ पर पड़ने वाले सामूहिक फलों का विवेचन निहित होता है। इसीलिए कुछ आधुनिक आचार्यों ने इसे राष्ट्रीय ज्योतिष के नाम से भी प्रतिपादित किया है। इसमें केवल मनुष्यों का समावेश ही नहीं है अपितु पशु पक्षी आदि प्राणिमात्र की चेष्टाओं सहित ग्रहों के चार, पर्यावरण विज्ञान, वृक्षायुर्वेद, कृषि विज्ञान, रसायन विज्ञान, मौसम विज्ञान, भूगर्भविज्ञान, वृष्टि विज्ञान, अतिवृष्टि, भूकम्प, महामारी, दकार्गल, प्राकृतिक आपदा, उल्कापात, वनस्पति विज्ञान, ग्रहचार, ग्रह-नक्षत्रादि बिम्बों के शुभाशुभ लक्षण, पशु - पक्षी कीटादि से संबंधित विषय, वास्तुशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र मुहूर्त, शकुन, दकार्गल, अङ्गविद्या इत्यादि अनेकानेक विषयों का विवेचन समाहित है। सारांश रूप में ऐसा कहा जा सकता है कि जिसके द्वारा ग्रहों के सामूहिक फलों का प्रतिपादन किया जाए वह संहिता स्कन्ध होता है। संहिता के विषयों का भी तीन प्रकार से विभाजित किया जा सकता है यथा- (१) पञ्चाङ्ग विषयक, (२) राष्ट्र विषयक, (३) व्यक्ति विषयक।

1. पञ्चाङ्ग विषयक -

तिथि-वार-नक्षत्र-करण-योग के द्वारा समष्टिगत चिन्तन पञ्चाङ्ग विषयक संहिता के विषय होते हैं। इसके अन्तर्गत मुहूर्त आदि का विधान होता है।

2. राष्ट्र विषयक-

प्राकृतिक उत्पात-भूकम्प-वास्तुविद्या-वर्षा इत्यादि विषयों का चिन्तन राष्ट्र विषयक संहिता विभाग में समाहित होते हैं।

3. व्यक्ति विषयक-

यात्रा-शकुन-स्त्री-पुरुष लक्षण का चिन्तन आदि के विषय इस विभाग में होते हैं।

संहिता स्कन्ध के प्रमुख ग्रन्थ- गर्ग संहिता, वशिष्ठ संहिता, नारद संहिता आर्ष स्वरूप तथा बृहत्संहिता, अद्भुत सागर इत्यादि पौरुष ग्रन्थ हैं। आचार्य वराहमिहिर के बृहत्संहिता को संहिता स्कन्ध का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

होरा- होरा स्कंध का दूसरा नाम जातक स्कंध भी है, इस स्कंध के अंतर्गत आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्र आदि पिंडों की गति स्थिति आदि के परस्पर संबंधों के द्वारा किसी स्थान विशेष में किसी व्यक्ति विशेष के ऊपर किसी काल विशेष में पड़ने वाले प्रभाव का सूक्ष्मत निरूपण किया जाता है। जिसके ज्ञान के अनेक भेद हैं जिनमें – जातक, ताजिक, प्रश्न, रमल तथा स्वप्न इत्यादि मुख्य हैं। परन्तु शुभाशुभ फल ज्ञापक इन पाँच विभागों में जातक स्कन्ध अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसलिए सामान्यतः होरा शब्द कहने से जातक स्कन्ध का बोध होता है। जैसा कि कल्याणवर्मा कहते हैं-

जातकमिति प्रसिद्धं यल्लोके तदिह कीर्त्यते होरा।

अथवा दैवविमर्शनपर्यायः खल्वयं शब्दः॥

इस स्कन्ध के अन्तर्गत ग्रह-राशि-नक्षत्र एवं भावों के परस्पर सम्बन्धों द्वारा पूर्व जन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में परिणति का सरलतया ज्ञान होता है जिसे हम भाग्य के रूप में भी जानते हैं। परन्तु यह भाग्य हमारे कर्मों का वही परिवर्तित स्वरूप होता है।

होरा स्कन्ध के प्रसिद्ध ग्रन्थ- बृहत्पराशर होराशास्त्र, बृहज्जातक, जातक-पारिजात, फलदीपिका, सारावली, जैमिनिसूत्र इत्यादि हैं।

4.2.1 ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास

ज्योतिषशास्त्र का उत्पत्ति सृष्टि काल से ही मानी जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा हुई है इसमें किसी भी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेद काल से ही इसकी उत्पत्ति का अनुमान करते हैं जबकि उस समय पर ज्योतिष शास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे परन्तु ज्योतिषशास्त्र के अनेक विषय ऋग्वेद आदि चारों वेदों के मन्त्र भाग में तथा संहिताभाग में प्रसंगानुरूप प्राप्त होते हैं। इस विद्या को जानने वालों के लिए वहां नक्षत्रदर्श शब्द का प्रयोग दिखता है। अतः इसकी प्राचीनता के विषय में कोई सन्देह नहीं है। छान्दोग्य उपनिद् में एक आख्यान आता है जिसमें नारद मुनि ने एक बार सनत्कुमारादि चारों भाइयों के पास जाकर ब्रह्मविद्या के अध्ययन की इच्छा प्रकट की है तथा ऋषि सनत्कुमार द्वारा यह पूछे जाने पर कि वे अब तक कौन-कौन सी विद्याएं पढ़ चुके हैं नारद मुनि ने अपनी अधीत विद्याओं में नक्षत्र विद्या अर्थात् ज्योतिष शास्त्र का भी उल्लेख किया है। यद्यपि प्राचीन काल में मुख्य विद्या आध्यात्म तथा विद्याध्ययन का मुख्य प्रयोजन जीवन मुक्ति था तथापि प्राचीन काल में गणित और ज्योतिष आदि लौकिक ज्ञान से सम्बद्ध विषय भी आध्यात्मिक ज्ञान में सहायक समझे जाते थे इसीलिए प्रत्येक ब्रह्मजिज्ञासु को ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन करना भी आवश्यक माना जाता था। बौधायन गृह्यसूत्र में 'मीनमेषयोर्मेषवृषभयोर्वा वसन्तः' का वर्णन मेषादिराशियों के ज्ञान का ही परिचायक है। मैत्रेयसूत्र में मलमास के लिए मलिम्लुच शब्द का प्रयोग ज्योतिषशास्त्र का संकेत करता है। शतपथ ब्राह्मण में नक्षत्राणि वै सर्वेषां देवानामायतनम् कहकर ज्योतिषशास्त्र की चर्चा की गयी है। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने 'नक्षत्रे गति कर्मणः' कहकर नक्षत्र शब्द का निर्वचन किया है वहीं व्याकरणशास्त्र के प्रणेता महर्षि पाणिनि ने पुष्य नक्षत्र के लिए तिष्य शब्द का प्रयोग किया है। तैत्तिरीय संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर २७ नक्षत्रों का उनके स्वामियों सहित वर्णन प्राप्त होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र, महाभारत तथा रामायण में ज्योतिषशास्त्र का बहुशः प्रयोग आया है। उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि मानवजाति के इतिहास का ज्ञान जहाँ से आरम्भ होता है उसमें ऐसा कोई कालखण्ड नहीं है जिसमें ज्योतिषशास्त्र का प्रसंग न आया हो। अतः जैन गणितज्ञ आचार्य महावीर के शब्दों में –

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरो।

यत्किञ्चिद् वस्तु तत्सर्वं गणितेन विना न हि॥

अर्थात् इस संसार में गणित के बिना कुछ भी संभव नहीं है तथा गणित का आदि स्रोत वेदों के बाद ज्योतिष शास्त्र में ही व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है इसलिए ज्योतिष शास्त्र की स्थिति सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही वर्तमान समय तक सभी काल खंडों में किसी ने किसी रूप में सतत प्रवाह मान रही है। सृष्टि के ज्ञान एवं व्यवस्था के सकुशल संचालन हेतु स्वयं ब्रह्मा जी वेद वेदंगों की रचना करते हुए सर्वप्रथम अपने मानस पुत्र नारदजी के लिए ज्योतिष शास्त्र का आदेश किया जो शौनकादि ऋषियों की परंपरा से पूर्ण स्वरूप में विकसित होकर सनातन धर्म के अनुकूल कार्य संपादन में सतत संलग्न है। ज्योतिष शास्त्र की विकास यात्रा को बहुशः इतिहासकारों ने निम्नलिखित काल खंडों में विभक्त किया है।

प्राग्वैदिककाल- ई.पूर्व 10000 वर्ष के पूर्व का काल (आधुनिक मतानुसार) सृष्ट्यारम्भ समय से वैदिक काल के पूर्ववर्ति काल को प्राग्वैदिक काल कहा जाता है।

वैदिक काल- ई. पूर्व. 10001 से 500 तक के मध्य काल वैदिककाल कहा जाता है जिसको ऋक्, यजु, अथर्व ज्योतिष का काल भी कहा जाता है।

वेदाङ्क काल- आचार्य लगध के समकालीन काल को वेदाङ्क काल कहा जाता है।

आदिकाल- ई.पूर्व 501 से 500 ई. तक के काल को आदिकाल कहा जाता है।

सिद्धान्तकाल- 501 ई. से 1000 ई. के मध्य का काल जिसको पूर्वमध्यकाल भी कहा जाता है।

उत्तरमध्यकाल- 1001 ई. से 1600 ई. तक के काल को उत्तरमध्यकाल के नाम से जाना जाता है।

आधुनिक काल- 1601 ई. से वर्तमान तक के काल को आधुनिक काल कहा जाता है।

इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है ज्योतिषशास्त्र उतना ही प्राचीन है जितना वेदा वस्तुतः यदि देखा जाए तो ऋग्वेद का काल निर्धारित करना अतीव दुष्कर है परन्तु यह भी सत्य है कि सृष्टि काल से ही मानवजाति का मार्गदर्शक वेद ही था। विभिन्न इतिहासकारों के मतों को तथा प्राचीन साहित्य का अवलोकन करने पर दृढतया प्रतिपादित कर सकते हैं कि ज्योतिषशास्त्र का उद्गम सृष्ट्यारम्भकाल से ही था। उस काल (समय) में लोग वन्यजन्तुओं के समान वन में ही निवास करते थे तथा रात्रि में वन्य जन्तुओं से भयभीत होकर सूर्योदय की प्रतीक्षा करते थे जिससे धीरे-धीरे ज्योतिष शास्त्र का उपयोग सभी के दिनचर्या तथा व्यवहार में आ गया। इस ज्योतिष शास्त्र के ब्रह्मादि अष्टादश प्रवर्तक माने जाते हैं-

**सूर्यः पितामहोव्यासो वशिष्ठोऽत्रि पराशरः,
नरदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिरा।**

कश्यपो

**लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः,
शौनकोऽष्टादशश्चैव ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः॥**

1.सूर्य, 2. पितामह, 3. व्यास, 4. वशिष्ठ, 5. अत्रि, 6. पराशर, 7. कश्यप, 8. नारद, 9. गर्ग, 10. मरीचि, 11. मनु, 12. अङ्गिरा, 13. लोमश, 14. पौलिश, 15. च्यवन, 16. यवन, 17. भृगु, 18. शौनका ये ज्योतिष के अष्टादश प्रवर्तक हैं। परन्तु इस प्रसङ्ग में इतिहासकारों एवं आचार्यों ने महात्मा लगध की चर्चा इनमें नहीं की है जिन्होंने वेदों से ज्योतिष शास्त्र के मूल विषयों को निकालकर वेदाङ्क ज्योतिष नामक ग्रन्थ की रचना की। जिसके अन्तर्गत आर्ष/ऋग्वेद ज्योतिष में 36 यजुर्ज्योतिष में 44 तथा अथर्वज्योतिष में 162 श्लोक हैं।

4.3 ज्योतिषशास्त्र का मुख्य प्रयोजन तथा प्रतिपाद्य

भारतीय चिन्तन परम्परा में निःशेष ज्ञान विज्ञान के प्रथम उद्भव स्थान वेदों तथा उनके अर्थावगमन में वेदांगशास्त्रों का महत्त्व एवं वैज्ञानिक स्वरूप आज भी प्रमाण रूप में सर्वोत्कृष्ट है। इन वेद वेदांगों का केन्द्रिय संस्थाप्य विषय पुरुषार्थ चतुष्टय को सर्व-सम्मति से स्वीकार किया गया है। समस्त ज्ञान-विज्ञान रूप अखिल वेद राशि के अर्थावबोध में आत्मगुणों के साथ सभी वेदाङ्ग अपनी अपनी विशिष्टता का निरूपण करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। चाहें नित्य

पुरुषार्थ हो या अनित्य पुरुषार्थ इनके प्रथम बोध में संहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त त्रिकाण्ड वेद वेदांगों का ही योगदान परिलक्षित होता है। इन अपौरुषेय वेदार्थों के प्रकाशनार्थ पृथक् पृथक् अपनी विशिष्टता के अनुरूप, व्याख्या एवं प्रकाशन करते हुए भी प्रत्येक शास्त्रों का परमसुख या परमपुरुषार्थ मोक्ष के विषय में अन्ततः ऐक्यमत सिद्ध हो जाता है। मानव की पुरुषार्थ सिद्धि में जितना योगदान संहिताओं का है उतना ही अवदान ब्राह्मण अरण्यक एवं उपनिषदों का भी वैशिष्ट्य प्रतीत हो रहा है। उसी के अन्तर्गत षड् वेदाङ्गों में मूर्ध्नि रूप में विद्यमान वेदपुरुष का नेत्ररूप यह ज्योतिषशास्त्र भी अपने विषय सन्दर्भों के द्वारा मानव मात्र को प्रत्यक्षतः वेदविहित नियमानुसार जीवनपथ पर अग्रसरित होने की प्रेरणा देते हुए जीवन के सम्भाव्यमान अशुभों का ज्ञान एवं वेद सम्मत निवारण कर स्वस्थ तन-मन से पुरुषार्थ प्राप्ति के विषयों का सहज एवं सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत कर लौकिक परम पुरुषार्थ यश की सिद्धि का मार्ग भी सरलतया प्रस्फुटित कराता है। प्रस्तुत प्रसंग में शास्त्रकारों तथा अन्य ज्योतिर्विदों का आशय भास्कराचार्य एवं वराहमिहिर के निम्नलिखित वाक्यों से स्वतः सुस्पष्ट हो जाता है।

1. यो ज्योतिषं वेत्ति नरः स सम्यक् धर्मार्थकामाल्लभते यशश्च।

2. न संवत्सरपाठी च नरकेषूपपद्यते। ब्रह्म लोकप्रतिष्ठां च लभते दैवचिन्तकः॥

इस काल विधान शास्त्र के आलोक में वेदांग ज्योतिष के कर्ता महात्मा लगध ने काल को ही परम ब्रह्म रूप में प्रतिष्ठापित किया है जिसे आचार्य भास्कर ने 'कालतन्त्रजगुः' कहते हुए सिद्ध किया है।

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव सहात्मना। कान्ते सपक्वस्तेनैव सहाव्यक्ते लयं व्रजेत्॥

के अनुसार काल ही समग्र विश्व का उत्पत्तिकारक एवं विनाशक है। शास्त्रों में काल पुरुष को पुरुष तत्त्व तथा आत्मतत्त्व एवं इसके साक्षात्कार को मोक्ष तक की संज्ञा से अभिहित किया गया है। कालज्ञपुरुष ही समस्त दुःखों का सन्तरण करता है। ऐसा उपनिषदों का उद्घोष भी है। श्रीमद्भगवद्गीता का "कालोऽस्मि" यह भगवान् श्रीकृष्ण का कथन सूक्ष्मतम चिन्तन की ओर अभिप्रेरित करता है जिससे समस्त भूत-ग्रह- नक्षत्र- लोकपाल-देश आदि का परिज्ञान हमारी ज्ञान यात्रा में उत्तरोत्तर सहायक प्रतीत हो रहे हैं। जिन निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से हम अन्तःकरण के शुद्धि की चर्चा करते हैं, उसमें कर्म के शुभ अनुष्ठापनार्थ शुभ मुहूर्त एवं काल का अप्रतिम योगदान है। इतना ही नहीं अपितु खगोल एवं भूगोल के समस्त विषय-वस्तु का मानव-मन में अवतरण तथा उनके गूढ़ रहस्यों का अवगमन ज्योतिष के बिना सम्भव नहीं है। जैसे नेत्र हमें विषय की ओर ले जाता है वैसे ही ज्योतिषशास्त्र कर्म-उपासना की विधियों को अनुकूल एवं सहज बनाते हुए मानव मात्र के ब्रह्मस्थानीय परम शुभ की ओर हमारा आनयन अथवा प्रापण कराता है। अतः ज्योतिषशास्त्र के मूल में भी अन्य दर्शनों की भांति परमब्रह्म तत्त्व की ही सिद्धि होती है। फलादेश के प्रसङ्ग में समानगुण धार्मिता वश सकल चराचर जीवों का ग्रहादि के साथ परम्पर आकर्षण एवं विकर्षण ही पूर्वजन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में भाग्य रूपी परिणति को द्योतित करता हुआ वेद विहित नियमों से परमतत्त्व की प्राप्ति हेतु मार्ग प्रदर्शित करता है। परन्तु उस परमब्रह्म रूपी परमतत्त्व की प्राप्ति का काल भी पूर्व सुनिश्चित होने के कारण ज्योतिष शास्त्र के द्वारा उस शुभ काल का ज्ञान कर यथा समय यथा विधि प्रवर्तन से ही परम तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। जिसको वेद पुराणदि में पृथक् पृथक् स्वरूपों में वर्णित किया गया है।

इन पारलौकिक एवं आध्यात्मिक प्रयोजनों की सिद्धियों के साथ-साथ यह भारतीय ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन सहित सृष्टि के समस्त भौतिक तत्वों का भी प्रतिपादन करता हुआ लोक सहायक सिद्ध होता है इसीलिए स्वयं नारद जी ने नारद संहिता में कहा है कि - "विनेतदखिलं श्रौतं स्मार्तकर्म न सिद्ध्यति" अर्थात् उपर्युक्त समस्त क्रियाएं कालाधीन है तथा काल का नियमन ज्योतिष शास्त्र के अधीन है अतः इस शास्त्र के विना वेद विहित कोई भी श्रौत एवं स्मार्त क्रियाएं सिद्ध नहीं हो सकती।

ज्योतिष शास्त्र के आचार्यों ने परंपरा में इसे आदेश शास्त्र के रूप में भी प्रतिपादित किया है जो इसका मुख्य प्रतिपाद्य है यहां आदेश का तात्पर्य शुभाशुभ काल के निरूपण से है अतः यह शास्त्र आकाश में विद्यमान राशियों एवं ग्रह नक्षत्र आदि पिंडों के परस्पर गति स्थिति आदि के द्वारा मानव जीवन के पूर्व जन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में भाग्य रूपी परिणति को प्रस्तुत करता हुआ जीवन के सुख दुखों के फलादेश स्वरूप में उपस्थापित करता है तथा जीवन पथ को निष्कंटक बनाता हुआ सुख सौविध्य पूर्ण मानव जीवन की उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करता है। कार्य की प्रवृत्ति एवं प्रकृति के अनुसार अनुकूल काल का मुहूर्त के रूप में निर्देश भी इस शास्त्र की एक विशिष्टता ही है, वास्तु शास्त्र के अंतर्गत यह चिरकाल स्थायी, सुंदर, सुदृढ़ एवं शास्त्रानुकूल गृह के निर्माण की विधियों का वर्णन करता हुआ ऐसे गृह निर्माण में सहायक सिद्ध होता है जिस गृह में भवन निर्माता को सुख शांति समृद्धि युक्त जीवन की प्राप्ति हो।

इसके अतिरिक्त यह शास्त्र भूगर्भ से अंतरिक्ष तक के गणित, खनिज, रसायन, अंतरिक्ष, भूगर्भ, जीव, वनस्पति, कृषि, वृष्टि, मौसम, प्राकृतिक उत्पात, स्वास्थ्य, जन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में परिणति, विविध मुहूर्त तथा वास्तु आदि लोक कल्याण कारक विषयों के द्वारा समाज निर्माण में सतत प्रयत्नशील है। अतः इसका मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्मांडीय ज्ञान की समग्रता एवं उसके द्वारा मानव जीवन एवं सकल चराचर के प्रकृति मूलक विकास की अवधारणा तथा मुख्य प्रयोजन सनातन धर्म में वर्णित मानव जीवन के लक्ष्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति सहित परम ब्रह्मा द्वारा सृजित इस सृष्टि के संरक्षण सहित प्राणिमात्र का कल्याण ही है।

4.3.1 ज्योतिषशास्त्र की साम्प्रतिक उपयोगिता

निरभ्र आकाश में स्थित ग्रह-नक्षत्रादि दीप्तिमान पिण्डों की गति-स्थित्यादि में उत्पन्न परिवर्तन स्वोत्पत्ति काल से ही मानव जीवन को प्रभावित एवं आकर्षित करते रहते हैं। यद्यपि भारतीय मनीषियों ने अपने तपश्चर्यादि तथा अनुसंधान के द्वारा आकाशीय अनेक रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास किया परन्तु अभी भी अनेक पक्ष प्राचीन एवं आधुनिक अन्तरिक्ष विज्ञानियों के अन्वेष का विषय बना हुआ है। तथापि भारतीय दर्शनशास्त्रीय स्थापित सिद्धांत "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" के अनुसार प्राणीमात्र के शरीर की स्थिति व संरचना अखिल ब्रह्माण्डस्थ पिण्डों की स्थिति एवं संरचना के अनुरूप ही होने से जिन नियमों एवं सिद्धान्तों के आधार पर ब्रह्माण्ड सृजित एवं संचलित है, उन्हीं नियमों के अनुरूप प्राणीमात्र का शरीर भी सृजित तथा संचरित होता है अतः सौरमण्डलीय ग्रहों के परावर्तित प्रकाश का एक-दूसरे पर जो प्रभाव पड़ता है वही प्रकाशीय प्रभाव चराचर जीवों पर भी शुभाशुभ रूप में पड़ता है जिसके निर्धारण में जीवोत्पत्ति का दिग्देश एवं काल विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि ग्रह पिण्डों में अन्तर्निहित उनके संघटनात्मक तत्वों का स्व प्रकृति के अनुसार ही प्रभाव चराचर प्राणी जगत् पर शुभाशुभ रूप में पड़ता है। जिसके ज्ञान हेतु जन्मकालिक आकाशीय स्थिति ही जातक के लिए मुख्य होती है। इस फल में गोचरीय प्रभाव से न्यूनाधिक्य भी दृष्टिगोचर होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति की

मिताक्षरा टीका में स्पष्टतया वर्णित है कि "जगतः स्थावरजड्गमात्मकस्य उत्पत्ति-निरोधौ भावाभावौ ग्रहाधीनौ"। अर्थात् इस ब्रह्मांड की समग्र व्यवस्था ग्रहाधीन है तथा उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुसार ग्रह एवं मानवजीवन का परस्पर अंतः सम्बन्ध जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करता हुआ तदनुकूल अपने आप को तैयार करने की सूचना देता है।

अतः यह ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन के लिए प्रत्येक क्षेत्र में सहयोगी तथा कल्याणकारी है तथा मानव किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट रहता है। आप सभी जानते हैं कि संसार के सभी कार्य काल के अधीन होते हैं। जैसा कि पूर्व में भी कहा जा चुका है कि ज्योतिष शास्त्र काल का विधान करने वाला शास्त्र है। जो सभी मानवों के लिए सहायक एवं उपयोगी सिद्ध होता है। वर्तमान समय में यह ज्योतिष शास्त्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुपयोगी एवं राष्ट्र निर्माण में सहायक है क्योंकि आतंकवाद, भ्रष्टाचार, रोग, बेरोजगारी, परिवार विघटन, राष्ट्र के प्रति उदासीनता सहित पर्यावरण प्रदूषण, जल संरक्षण, भूमि संरक्षण, राष्ट्र रक्षा, जनसंख्या नियंत्रण, प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, इत्यादि जितनी भी विषय हैं वे सभी ज्योतिष शास्त्र के विचारणीय बिंदु हैं क्योंकि ज्योतिष शास्त्र के द्वारा वर्णित सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए यदि हम शुभ काल में गर्भाधान आदि संस्कारों से सुसंस्कृत संतान की उत्पत्ति में प्रयुक्त होंगे तथा वेद विहित नियम अनुसार उनके संस्कारों का संपादन करेंगे तो निश्चित ही आज की पीढ़ी मानसिक विकृति से रहित होकर स्वस्थ एवं सुदृढ मन से भारतीय सांस्कृतिक मूल्यपरक विकास की अवधारणा का संरक्षण करते हुए अपने सहित अपने परिवार एवं अपने राष्ट्र के निर्माण में सहायक सिद्ध होगा तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों का हमारे युवाओं के मन मस्तिष्क के ऊपर कोई भी दुष्प्रभाव नहीं पड़ेगा। आज का विज्ञान विकासवाद की तरफ बढ़ता हुआ हमें विनाश की तरफ भी ले जा रहा है परंतु ज्योतिष शास्त्र में निहित वैज्ञानिक तत्व प्रकृति मूलक विज्ञान की अवस्था पर जोर देते हैं तथा इसका विकास हमें शाश्वत वृद्धि की तरफ ले जाता है। वर्तमान समय में चिकित्सा के क्षेत्र में भी बहुत विकास हो चुका है तथापि रोग की उत्पत्ति के बाद अनेक बीमारियों में चिकित्सक किंकरतव्य विमुढ की स्थिति में दिखाई दे रहे हैं परंतु यदि हम ज्योतिष शास्त्र के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए आगमन काल से पूर्व ही रोगों का परिज्ञान कर ले तो उनके निदान एवं उपचार में हमें सहायता मिलेगी तथा स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकेगा। बेरोजगारी के क्षेत्र में मनुष्य अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के विपरीत क्षेत्र में प्रयास करता हुआ रोजगार पाने की चेष्टा कर रहा है जिससे उसके जीवन में असफलता एवं निराशा हाथ लग रही है परंतु यदि ज्योतिष शास्त्र के वृत्ति निर्धारक नियमों का अनुसरण करें तो जीवन में अपनी प्रतिभा के अनुरूप अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी। मौसम विज्ञान की जानकारी सहित प्राकृतिक उत्पाद के विषयों का संहिता शास्त्र के सिद्धांतों द्वारा विचार करते हुए हम प्राकृतिक आपदाओं के आगमन का समय से पूर्व ही ज्ञान कर उनसे संरक्षण का उपाय कर सकते हैं कृषि के क्षेत्र में भी कृषि पाराशर आदि तथा संहिता शास्त्र में वर्णित सिद्धांतों का अनुप्रयोग करते हुए जैविक कृषि को आगे बढ़ा करके अधिक एवं विकार रहित अन्न की उत्पत्ति करते हुए राष्ट्र निर्माण में सहायक हो सकते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी गणित, खनिज, खगोल, भूगोल, भूगर्भ, अंतरिक्ष, वनस्पति, ग्रह गणना, जल विज्ञान, मृदा, मौसम, अंतरिक्ष उत्पाद, चिकित्सा, वृत्ति, अभियांत्रिकी आदि विषयों के साथ सामूहिक अध्ययन करते हुए अपनी प्राचीन ज्ञान राशि से राष्ट्र के निर्माण एवं उत्थान में सहायक बनकर अपने जीवन को धन्य बना सकते हैं।

4.4 ज्योतिषशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ

ज्योतिषशास्त्र इतना विस्तृत है कि इसके विषयों के प्रतिपादन हेतु विभिन्न कालों में आचार्यों ने सहस्राधिक ग्रन्थों की रचना की है। जिसका विस्तृत अध्ययन श्री बालकृष्णदीक्षित द्वारा निर्मित भारतीय ज्योतिष नामक ग्रन्थ में कर सकते हैं तथापि आप सब यहां ज्योतिष शास्त्र के कतिपय प्रमुख ग्रन्थों का परिचय प्राप्त करेंगे।

जैसा कि आप सब ने पूर्व में पढ़ा है कि ज्योतिष शास्त्र के विषय प्रङ्गानुसार वेदों में यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। परन्तु वे ज्योतिष के ग्रन्थ नहीं हैं। इस दिशा में सर्व प्रथम महात्मा लगध का वेदाङ्ग ज्योतिष प्राप्त होता है जिसमें आचार्य ने वेदों से ज्योतिष के विषयों को निकालकर उनका एकत्र संग्रह किया है। वेदाङ्ग ज्योतिष ऋक्, यजुष् एवं अथर्व वेदों से सम्बद्ध तीन पृथक्-पृथक् ग्रन्थ के रूप में निर्मित है।

आर्यभटीयम्- आचार्य आर्यभट्ट द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ उपलब्ध ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों में सबसे प्राचीनतम पौरुष ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कुल चार पाद हैं जो दशभीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद तथा गोलपाद के नाम से प्रतिष्ठित है इस ग्रन्थ में अक्षरद्वारा अंक ज्ञान पद्धति, पृथ्वी का भ्रमण, भूपरिधिव्यास का सम्बन्ध, अवर्गाङ्कमूल साधन आदि अनेक विशिष्ट विषय वर्णित हैं।

बृहत्पाराशर होराशास्त्र- आचार्य पराशर द्वारा प्रणीत ग्रन्थ होरा स्कन्ध का प्रसिद्ध ग्रन्थ जिसमें पराशर तथा मैत्रेय मुनि के संवाद रूप में मानव के कल्याण के होरा शास्त्र का विस्तृत वर्णन किया गया है। वस्तुतः महर्षि पराशर ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक ऋषियों में हैं अतः मान्यतानुसार यह ग्रन्थ एक आर्ष ग्रन्थ है।

सूर्यसिद्धान्त- मयासुर एवं सूर्याश पुरुष के संवाद रूप में वर्णित यह ग्रन्थ ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त स्कन्ध का सबसे महत्वपूर्ण प्राचीनतम एवं उपयोगी ग्रन्थ है। आज भी इसका अध्ययन अध्यापन तथा इसके द्वारा पञ्चाङ्ग निर्माण का कार्य देश में प्रायः सभी जगह होता है। मान्यता के अनुसार स्वयं भगवान सूर्य द्वारा उपदेशित यह एक अपौरुषेय ग्रन्थ है जिसके उपदेश का काल कृतयुग का अन्त समय है। जैसा कि स्वयं सूर्य सिद्धान्त में वर्णित श्लोक द्वारा यह स्पष्ट होता है।

पञ्चसिद्धान्तिका- पञ्चसिद्धान्तिका ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त स्कन्ध का प्राचीनतम एवं प्राणिक ग्रन्थ है जो वाराहमिहिर द्वारा शक् 427 में रचित है। आचार्य वराहमिहिर ज्योतिष शास्त्र ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों पर रचनाएं की हैं जिनमें सिद्धान्त स्कन्ध पर- पञ्चसिद्धान्तिका, संहिता स्कन्ध पर- बृहत्संहिता तथा होरा स्कन्ध पर- बृहज्जातक, लघुजातक, विवाहवृन्दावन, योगयात्रा इत्यादि ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

बृहत्संहिता- आचार्य वराहमिहिर प्रणीत यह ग्रन्थ संहिता शास्त्र का सर्व जन प्रसिद्ध, प्रामाणिक तथा उपलब्ध संहिता ग्रन्थों में सबसे उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें मानवजीवनोपयोगी प्रायः सभी विषय वर्णित हैं। यह आचार्य की अन्तिम कृति मानी जाती है। इस ग्रन्थ में 106 अध्याय हैं।

सारावली- आचार्य कल्याण वर्मा द्वारा शक् 500 के आसन्न प्रणीत यह ग्रन्थ फलित शास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कुल 42 अध्याय तथा होरा स्कन्ध के विषयों का

विस्तार पूर्वक निरूपण है।

ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त-आचार्य ब्रह्मगुप्त प्रणीत यह ग्रन्थ सिद्धान्त शास्त्र का प्रमाणिक तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ है आचार्य वेधशास्त्र के अच्छे कुशल पण्डित माने जाते थे। आप के द्वारा रचित खण्डखाद्यकं नामक करण ग्रन्थ भी प्राप्त होता है। ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त ग्रन्थ का रचना काल 550 शक माना जाता है।

सिद्धान्तशिरोमणि-ज्योतिष शास्त्र के भास्कर कहे जाने वाले स्वयं भास्कराचार्य प्रणीत यह ग्रन्थ 1072 शक में प्रणीत किया गया है। आचार्य भास्कर का करणकुतूहल नामक करण ग्रन्थ भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिसका रचना काल 1105 शक प्राप्त होता है। इस प्रमाण से यह भी स्पष्ट होता है कि आचार्य ने सर्व प्रथम सिद्धान्तशिरामणि की रचना की है।

सर्वार्थचिन्तामणि- वेङ्कटाद्रिदैवज्ञप्रणीत होरा स्कन्ध का यहसुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। आचार्य वेङ्कटाद्रिदैवज्ञ वैद्यनाथ के पिता थे। इनकाकाल 1250 शक माना जाता है।

जातकपारिजात-इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य वैद्यनाथ है। यह फलित शास्त्र का अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उपयोगी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का रचना 1300 शक माना जाता है। इसमें कुल अध्याय 18 हैं। यह ज्योतिष शास्त्र के पाठ्यक्रमों में सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

केशवीयजातकपद्धति-नन्दि ग्राम के रहने वाले केशवाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ लघु होने पर भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ को केशवीयजातकपद्धति के नाम से भी जाना जाता है। इसका काल चौदहवीं सदी है।

ग्रहकौतुकम्-केशवाचार्य द्वारा प्रणीत यह करण ग्रन्थ ज्योतिष जगत में अपना इक अलग स्थान तथा वैशिष्ट्य को धारण करता है। इस ग्रन्थ का रचना काल 1418 शक माना जाता है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने स्वयंकृत वेधोपलब्ध परिमाणों द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों के गणित द्वारा प्राप्त परिणामों की समीक्षा कर ग्रहों की सूक्ष्म परिणाम प्राप्ति हेतु ग्रहों के क्षेपक और वार्षिक गतियां लिखी हैं। यह वेध परम्परा का अद्भुत ग्रन्थ है।

ग्रहलाघव-बहुत ही लोक प्रिय तथा बहुत प्रयुक्त होने वाला यह ग्रन्थ जिसके रचनाकार केशवदैवज्ञ के पुत्र आचार्य गणेशदैवज्ञ हैं। इस ग्रन्थ के सहयोग से करण विधि द्वारा पञ्चाङ्ग का निर्माण वर्तमान में देश के अनेक भागों में किया जाता है। इस ग्रन्थ का प्रणयन आचार्य ने 1442 शक में किया था। यह ग्रन्थ भी विभिन्न सिद्धान्तों से प्राप्त ग्रह मानों के वेध द्वारा समीक्षा करते हुए निर्मित है।

मूर्तचिन्तामणि-मूर्त शास्त्र का सर्व प्रमाणिक तथा प्रसिद्ध यह ग्रन्थ जिसके रचना कार आचार्य अनन्तदैवज्ञ के पुत्र रामदैवज्ञ हैं। इसकी रचना 1522शक में हुई है। इस ग्रन्थ के ऊपर बहुत सारी टीकायें हैं जिनमें ग्रन्थकार की स्वयं की प्रमिताक्षरा नामक टीका तथा गोविन्द दैवज्ञ की पीयूषधारा नामक टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में कुल तेरह अध्याय हैं।

जातकालङ्कार-गणेशकवि द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक, उपयोगी तथा प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में कुल छः अध्याय हैं जिनकी क्रमशः संज्ञा, भाव, योग, विषकन्या, आयुर्दाय, व्यत्यय, भावफल संज्ञाएँ हैं। इस ग्रन्थ की रचना 1535 शक में हुई है।

सिद्धान्ततत्त्वविवेक-आचार्य कमलाकर द्वारा प्रणीत सिद्धान्त शास्त्र का यह ग्रन्थ बहुत ही चर्चित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना 1580 शक में हुई है। इसमें आचार्यों ने विज्ञान के अनेक आधुनिक विषयों का तथा गणितीय प्रविधियों का समावेश किया है। कुछ संक्षिप्त रूप में ग्रन्थों की सारणी यहां दी जा रही है जिसका अवलोकन कर के आप ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ जो ऊपर वर्णित नहीं हैं उनको आप जान सकेंगे।

क्र.सं.	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थ के कर्ता	ग्रन्थ रचना काल
1.	शिष्यधीवृद्धितन्त्र	आचार्य लल्ल	
2.	सिद्धान्तशेखर	श्रीपति	961 श.
3.	सिद्धान्तसार्वभौम	मुनीश्वर	1568 श.
4.	सिद्धान्तचूडामणि	रङ्गनाथ	1580 श.
5.	राजमृगाङ्ककरण	श्रीभोजराज	964 श.
6.	करणप्रकाश	आचार्य ब्रह्मदेव	1014 श.
7.	मकरन्दसारिणी	आचार्य मकरन्द	1400 श.
8.	मुहूर्तमार्तण्ड	नारायण	1493 श.
9.	अद्भुतसागर	बल्लालदेव	1089 श.
10.	ज्योतिर्विदाभरण	कालिदास	
11.	ज्योतिर्निबन्ध	आचार्य शिवदास	1446 श.
12.	मुहूर्तगणपति	आचार्यगणपति दैवज्ञ	1607 श.
13.	नरपतिजयचर्यास्वरोदय	नरपत दैवज्ञ	1097 श.
14.	षट्पञ्चाशिका	पृथुयस	-
15.	वृद्धजातक	माधवाचार्य	1185 श.
16.	जातकाभरण	ढुण्डिराज	1460 श.
17.	जातकसार	नृसिंहदैवज्ञ	-
18.	भावकुतूहल	आचार्य जीवनाथ	1780 श.
19.	हायनरत्न	आचार्य बलभद्र मिश्र	1500 श.
20.	ताजिकनीलकण्ठी	नीलकण्ठाचार्य	1509 श.

ज्योतिष शास्त्र के सभी प्रमुख ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों को जानने के लिए कृपया डॉ. बालकृष्ण दीक्षित रचित 'भारतीय ज्योतिष' नामक ग्रन्थ का अध्ययन करें।

4.4.1 ज्योतिषशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थकार

यद्यपि ज्योतिष शास्त्र के अष्टादश प्रवर्तकों सूर्य, पितामाह, व्यास, विशिष्ठ, अत्रि, पराशरादि की चर्चा पहले की गई जिन्होंने सिद्धान्त, संहिता, होरा के ग्रन्थों का प्रणयन कर सम्बन्धित विषयों का लोक कल्याण हेतु विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। परन्तु इन में से कुछ आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध है तथा कुछ के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। इन्हीं आचार्यों तथा इनके ग्रन्थों को

आधार बनाकर परवर्ती आचार्यों ने ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों की रचना की है। जिनमें आर्यभट्ट से ज्योतिष शास्त्र में ग्रन्थ लेखन की पौरुषेय परम्परा आरम्भ होती है।

यहाँ पर कुछ प्रमुख ग्रन्थकारों का परिचय संक्षिप्त में किया जा रहा है।-

आचार्य आर्यभट्ट- ज्योतिष शास्त्र की आचार्य परम्परा में आर्यभट्ट का नाम प्रथम स्थान प्राप्त होता है। इनका आर्यभटीयम् नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध तथा अनेक विशिष्ट वैज्ञानिक विषयों को अपने अन्दर समाहित किया है। आचार्य आर्यभट्ट के जन्म स्थान के विषय में आचार्यों में मतान्तर है। कुछ इनको कुसुमपुर (पटना) निवासी मानते हैं तो कुछ अश्मक निवासी मानते हैं। इनका काल शक 398 है।

भास्कराचार्य- आचार्य भास्कराचार्य का जन्म शक 1038 सह्याचल निकट प्रदेश माना जाता है। शाण्डील्य गोत्रोत्पन्न आचार्य भास्कराचार्य के पिता नाम महेश्वर, पितामह का नाम मनोरथ तथा प्रतिपातमह का नाम प्रभाकर थे। इनकी प्रसिद्ध रचना है सिद्धान्तशिरामणि है जिसके चार खण्ड लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणिताध्याय एवं भूगोलाध्याय के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने परिधि व्यास सम्बन्ध, भूमि का गोलत्व निरूपण, ग्रहण आकर्षण शान्ति का सिद्धान्त, भूपरिधिमान तथा गोलपृष्ठमान आदि अनेक विशिष्ट विषयों का वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपण किया है।

वराहमिहिर- आचार्य वराहमिहिर ज्योतिष शास्त्र के प्रथम ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों में रचना की है। इनकी सिद्धान्त स्कन्ध में पञ्चसिद्धान्तिका, संहिका स्कन्ध में बृहत्संहिता तथा होरा स्कन्ध में लघुजातक, बृहज्जातक इत्यादि रचनाएं प्राप्त होती हैं। आचार्य वराहमिहिर का जन्म 407 शक में तथा प्रयाण 509 शक के आसन्न हुआ था। आचार्य वराहमिहिर के पिता आचार्य आदित्य दास थे।

आदित्यदासतनयस्तदवाम्बोधः काम्पिल्लके सवितृतलब्धवरप्रसादः।

आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग् होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥

कल्याणवर्मा- आचार्य कल्याण वर्मा की स्थिति 6ठीं शताब्दी मानी जाती है परन्तु ज्योतिष शास्त्र के सुप्रसिद्ध इतिहासकार शंकरबालकृष्ण दीक्षित जी इनका काल 9वीं शताब्दी मानते हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना सारावली है।

लल्ल- आचार्य लल्ल के समय को लेकर आचार्यों में मतभेद है। महामहोपाध्याय आचार्य सुधाकर द्विवेदी जी इनका काल 5वीं शताब्दी तो शंकरबालकृष्ण दीक्षित इनका काल 6ठीं शताब्दी बताते हैं। आपकी सुप्रसिद्ध रचना शिष्यधीवृद्धितन्त्रम् है जो सिद्धान्त स्कन्ध का एक विशिष्ट ग्रन्थ है।

पृथुयश- आचार्य पृथुयश का जन्म अवन्तिका के काम्पिल्लक नामक में 8ठीं शताब्दी में हुआ था। इनके पिता आचार्य वराहमिहिर थे। फलित स्कन्ध के प्रश्न शास्त्र की सुप्रसिद्ध षट्पञ्चाशिका इनकी रचना है।

वैद्यनाथः- भारद्वाज गोत्रोत्पन्न वैज्ज वेङ्कटाद्रि के पुत्र तथा जातक पद्धति के प्रणेता केशव के गुरु आचार्य वैद्यनाथ जी का काल 14वीं शकाब्दी माना जाता है। आप के द्वारा रचित जातक पारिजात नामक ग्रन्थ सम्प्रति फलित शास्त्र के प्रतिनिधि ग्रन्थों में से एक है।

गणेशदैवज्ञ-आचार्य गणेशदैवज्ञ को साक्षात् भगवान गणेश का अवतार माना जाता है। ये 14वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिष के आचार्य है जिनकी 13 से अधिक रचनाएं हैं जिनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय ग्रहलाघव है। जिसकी रचना इन्होंने मात्र 13 वर्ष की आयु में किया था। ग्रहलाघव पञ्चाङ्ग निर्माण से सम्बन्धित विषयों का सरलतम एवं सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि इसके ग्रह कालान्तर जन्य प्रभाव से कुछ स्थूल हो गए हैं परन्तु यह अयन समय का सूक्ष्ममान देने वाला ग्रन्थ है। देश के अनेक भागों में आज भी इसकी सहायता से पञ्चाङ्ग निर्माण होता है।

नीलकण्ठ-15वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ताजिक शास्त्र के आचार्य नीलकण्ठ मुहूर्तचिन्तामणि ग्रन्थ के रचयिता रामदैवज्ञ के बड़े भाई तथा अनन्तदैवज्ञ के पुत्र हैं। आपकी प्रसिद्ध रचनाओं में से ताजिक नीलकण्ठी तथा टोडरानन्द ये दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। ताजिकनीलकण्ठी में वर्षकुण्डली निर्माण तथा उसके फलों एवं योगों का विस्तृत वर्णन किया है।

कमलाकरभट्ट-नृसिंह दैवज्ञ के पुत्र आचार्य कमलाकर 16वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्यों में से एक हैं। इन्होंने अपने काल से पूर्व के सभी सिद्धान्त ग्रन्थों का सम्यक् अवलोकन करने के बाद सौरमण्डल का अनुसरण करते हुए सिद्धान्ततत्त्वविवेक नामक ग्रन्थ की रचना की है। जिसमें सिद्धान्त की अनेक विशिष्टताएं निरूपित हैं। इस ग्रन्थ में सभी सिद्धान्तीय विषयों का समावेश है तथा अनेक आचार्यों के विभिन्न विषयों का खण्डन भी है। ये भास्कराचार्य के विरोधी थे अतः उनके सूक्ष्म एवं शुद्ध विषयों का भी खण्डन अपने ग्रन्थ में करने का प्रयास किया है।

क्रम सं.	ग्रन्थकार	काल	क्रम सं.	ग्रन्थकार	काल
1.	आर्यभट्ट	३९७ श.	41.	नीलकण्ठ	१५०९ श.
2.	लल्ल	५२५ श.	42.	गणेशदैवज्ञ	१४४२ श.
3.	वराहमिहिर	४२७ श.	43.	रामदैवज्ञ	१५२२ श.
4.	पृथुयश	४९० श.	44.	रामचन्द्र	१४२० श.
5.	भास्कराचार्य प्रथम	५३० श.	45.	सूर्य	१४६३ श.
6.	कल्याणवर्मा	५०० श.	46.	गोविन्ददैवज्ञ	१५२५ श.
7.	ब्रह्मगुप्त	५५० श.	47.	पीताम्बर	१४४४ श.
8.	मुञ्जाल	८५४ श.	48.	शिवदास	१४४६ श.
9.	श्रीधराचार्य	७२५ श.	39.	दुण्डिराज	१४६० श.
10.	समरसिंह	६०० श.	40.	शार्ङ्गधर	१४०० श.
11.	आर्यभट्ट द्वितीय	८७५ श.	49.	नृसिंहाचार्य	१४८० श.
12.	पृथूदक	८८० श.	50.	रघुनाथ	१४८४ श.
13.	भट्टोत्पल	८८८ श.	51.	नारायण	१४९३ श.
14.	विजयनन्दि	८८८ श.	52.	रंगनाथ	१५२५ श.
15.	भानुभट्ट	९०० श.	53.	कृपाराम	१४९० श.

16.	श्रीपति	९६१ श.	54.	विश्वनाथ	१५५० श.
17.	बलभद्र	८०० श.	55.	दिनकर	१५०० श.
18.	महेश्वर	१०४० श.	56.	विष्णु	१५३० श.
19.	भोजदेव	९६४ श.	57.	दिवाकर	१५२८ श.
20.	ज्ञानराज	१४२५ श.	58.	मुनीश्वर	१५५० श.
21.	बल्लासेन	१०९० श.	59.	कमलाकरभट्ट	१५५० श.
22.	शतानन्द	१०२१ श.	60.	बालकृष्ण	१५७१ श.
23.	भास्कर	१०८२ श.	61.	बलभद्र	१५६४ श.
24.	वरुण	९६२ श.	62.	रत्नकण्ठ	१५८० श.
25.	अनन्तदेव	११२० श.	63.	गणपति	१६०७ श.
26.	केशवार्क	१२०० श.	64.	चिन्तामणि	१६०७ श.
27.	नरपति	१०९० श.	65.	सुधाकर	१८२० श.
28.	माधव	१०६० श.	66.	शङ्करबालकृष्णदीक्षित	१८३० श.
29.	महादेव	१२३८ श.	67.	बालगङ्गाधरतिलक	१८१० श.
30.	महेन्द्रसूरि	१२६० श.	68.	सोमदैवज्ञ	१५५९ श.
31.	महादेव द्वितीय	१२८९ श.	69.	नित्यानन्द	१५६१ श.
32.	मकरन्द	१४०० श.	70.	चिन्तामणिदीक्षित	१७०५ श.
33.	केशव	१२०० श.	71.	बापूदेव शास्त्री	१७४० श.
34.	जीवनाथ	१७४४ श.	72.	नीलाम्बर शर्मा	१७४५ श.
35.	गणेशकवि	१५२५ श.	73.	देवकृष्ण शर्मा	१७४० श.
36.	अनन्तदैवज्ञ	११२० श.	74.	लज्जाशंकर शर्मा	१७२६ श.
37.	गङ्गाधर	१३५६ श.	75.	राघव	१७३२ श.
38.	वैद्यनाथ	१३५० श.	76.	गोविन्ददेव शास्त्री	१७५६ श.

4.5 सारांश

भारतीय ज्योतिष शास्त्र एक वेद मूलक एवं लोकोपकारक वेदाङ्ग शास्त्र है जो सृष्टि की उत्पत्ति काल से ही वेद विहित यागादि कार्यों के संपादन हेतु काल की व्यवस्था उपस्थापित करता हुआ सृष्टि की उत्पत्ति तथा सृष्टिसंचालन के नियमों को व्याख्यायित करता हुआ धर्मानुकूल व्यापार संपादन हेतु सनातन धर्मावलंबियों के सर्वविध कार्य संपादन में सहायक होता है। यह अपने सिद्धांत संहिता एवं होरा रूपी तीन स्कंधों में वर्णित विषयों द्वारा अपनी समग्रता को प्रदर्शित करता हुआ वर्तमान में भी राष्ट्र निर्माण में सतत प्रयत्नशील है। इसके सिद्धांत स्कंध के अंतर्गत काल ग्रहगणित तथा ब्रह्मांड का विवेचन, संहिता स्कंध के अंतर्गत आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्रादि के इस भूपृष्ठ पर पड़ने वाले सामूहिक प्रभाव का विश्लेषण किया गया है साथ ही होरा स्कंध के अंतर्गत किसी स्थान विशेष में किसी व्यक्ति विशेष के ऊपर पड़ने वाले

ग्रहों के प्रभावों का विश्लेषण है। होरा स्कंध के अंतर्गत यह शास्त्र पूर्व जन्मार्जित कर्मों की वर्तमान जीवन में परिणति को भाग्य के नाम से प्रस्तुत करता हुआ कर्म पथ पर चलने की प्रेरणा देता है। इसके संहिता स्कंध के विषय वृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकंप, प्राकृतिक उत्पात, मौसम विज्ञान, कृषि, भूकंप, महामारी इत्यादि सामूहिक फलों का विवेचन अत्यन्त समसामयिक है, साथ ही सिद्धान्त स्कंध के विषय अंतरिक्ष विज्ञान एवं भूगर्भ की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। अतः इसके अध्ययन से आप सारांश रूप में ज्योतिष शास्त्र के समग्र स्वरूप से परिचित हो जाएंगे।

4.6 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. ज्योतिषशास्त्र का इतिहास-लोकमणि दहाल
2. भारतीय ज्योतिष- नेमिचन्द्र शास्त्री, शंकरबालकृष्ण दीक्षित
3. ज्योतिषशास्त्र मञ्जूषा- प्रो.विनय कुमार पाण्डेय
4. बृहत्संहिता – वराहमिहिर
5. बृहज्जातकम् – वराहमिहिर
6. मुहूर्त्तचिन्तामणि – आचार्य रामदैवज्ञ
7. भारतीय ज्योतिष – डॉ.गोरख प्रसाद
8. सूर्यसिद्धान्त – प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय
9. सिद्धान्तशिरोमणि- भास्कराचार्य

4.7 बोधप्रश्न

1. ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति पर प्रकाश डालें।
2. स्कन्ध परिचय देते हुए विस्तृत व्याख्या करें।
3. ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तकों का विस्तार से उल्लेख करें।
4. ज्योतिषशास्त्र का संक्षिप्त रूप में परिचय दीजिए।
5. ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त ग्रन्थों का परिचय दें।
6. ज्योतिष शास्त्र के महत्व पर प्रकाश डालें।
7. ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता पर प्रकाश डालें।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY